योगप्रदीप

(LIGHTS ON YOGA)

श्रीअरविन्द

१९३६

श्रीअरविन्द ग्रन्थमाला

४, हेयर स्ट्रीट

कलकत्ता

प्रकाशकका वक्तव्य

श्रीअरविन्ददेवने समय-समयपर, अपने शिष्यों-को, उनके परिप्रश्नोंके उत्तरमें, जो पत्र लिखे उनमेंसे कुछ अवतरण इस पुस्तकमें दिये गये हैं। इनका यहाँ इस प्रकारसे संकलन किया गया है कि जो लोग योग-साधन करनेके इच्छुक हैं उनको इसके द्वारा कुछ सहायता हो और वे यह जानें कि योग क्या है और किस प्रकार उसका साधन किया जाता है।

विषय-सूची
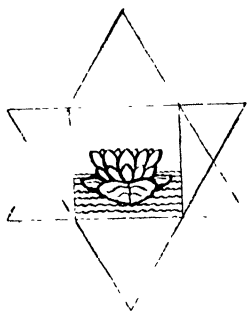
योगप्रदीप

हमारा लक्ष्य

श्रीहरिः

हमारा लक्ष्य

योगके जिस मार्गका यहाँ अवलम्बन किया जाता है उसका उद्देश्य अन्य योगमार्गोंसे भिन्न है। इस योग-मार्गका लक्ष्य केवल सामान्य अज्ञ जगच्चेतनासे ऊपर उठकर परमात्मभावको प्राप्त होना ही नहीं है, प्रत्युत उस परमात्म-भावकी विज्ञानशक्तिको इस मन, बुद्धि, प्राण और शरीरके जडत्वमें ले आना, इनको दिव्य बना देना, इनमें भगवान्-

को प्रकट करना और जड पार्थिव प्रकृतिमें दिव्य जीवन निर्माण करना इसका लक्ष्य है। यह बड़ा ही दुर्गम लक्ष्य और कठिन योगसाधन है; बहुतेरोंको, या प्रायशः सभी लोगोंको यह असम्भव ही प्रतीत होगा। सामान्य, अनभिज्ञ जगच्चेतनामें अज्ञानकी जो शक्तियाँ जमकर डटी हुई हैं वे इसके विरुद्ध हैं, इसका होना ही नहीं मानतीं और इसके होनेमें बाधा ही डालनेका यत्न करती हैं और साधक स्वयं भी देखेगा कि उसके अपने मन, प्राण और शरीर इसकी प्राप्तिमें कितनी जबर्दस्त रुकावटें डालते हैं। यदि तुम इस लक्ष्यको सर्वात्मना स्वीकार कर सको, इसके लिये सब कठिनाइयोंका सामना करनेके लिये तैयार हो, पीछे जो कुछ हुआ उसे और उसके बन्धनोंको पीछे छोड़ दो और इस भगवद्भावकी संभावनाके लिये सब कुछ छोड़ देनेके लिये, तथा आगे फिर जो कुछ हो उसके लिये, तैयार हो जाओ, तो ही तुम यह आशा कर सकते हो कि इस योगसाधनाके पीछे जो महत्सत्य छिपा हुआ है उसे स्वानुभवसे ढूँढ़कर प्राप्त कर सकोगे।

इस योगकी साधनाका कोई बँधा हुआ मानसिक अभ्यासक्रम या ध्यानका कोई निश्चित प्रकार अथवा कोई मन्त्र या तन्त्र नहीं है। यह साधना साधकके हृदयकी अभीप्सासे आरम्भ होती है। साधक आरम्भमें अपने

ऊर्ध्वस्थित या अन्तःस्थित आत्माका ध्यान करता है, अपने आपको भगवत्प्रभावके अधीन कर देता है, ऊर्ध्वस्थित भागवत शक्ति और उसके कार्यकी ओर अपने-आपको खोल देता और हृदयस्थित भागवत सत्ताके अभिमुख होता है, और इन बातोंके विरुद्ध जो कुछ है उसका परित्याग करता है। श्रद्धा, अभीप्सा तथा शरणागतिसे ही यह आत्मोद्घाटन बनता है।

* * * *

यहाँ किसी प्रकारकी सृष्टिके लिये कोई स्थान है तो वह एकमात्र भागवत विज्ञानका ही अवतरण है—भागवत सत्यका अवतरण, केवल मन और प्राणोंमें नहीं प्रत्युत शरीर और इस जड प्रकृतिमें भी। हमारा उद्देश्य अहं-भावके विस्तारके प्रतिबन्धकोंको हटाना अथवा मानव मनकी कल्पनाओं या अहंता-ममताकी प्राणवासनाओंकी स्वार्थपूर्तिके लिये खुला मैदान छोड़ देना या आश्रय प्रदान करना नहीं है। यहाँ कोई भी इसलिये नहीं है कि 'जो मन भावे करे' या किसी ऐसे संसारको रचे जिसमें हमलोग अपनी मनमानी कर सकें। यहाँ तो हमें वही करना है जो भगवान् चाहते हैं और ऐसा संसार रचना है जिसमें भगवदिच्छा स्वान्तर्निहित सत्यको प्रकट करे—किसी मानव अज्ञानसे वह भगवदिच्छा विकृत न हो या

किसी प्राणवासनासे विपर्यस्त या अन्यथाकृत न हो।
विज्ञानके इस योगमें साधकको जो काम करना होता है
वह कोई उसका अपना काम नहीं है जिसपर वह अपनी
शर्त लाद सके; प्रत्युत यह भगवत्कर्म है और इसे
भगवन्निर्दिष्ट नियमोंसे ही सम्पादन करना होगा। हमारा
योग हमारे अपने लिये नहीं, भगवानके लिये है। हम जो
कुछ व्यक्त करना चाहते हैं वह हमारा वैयक्तिक व्यक्ती-
करण नहीं है,—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, सर्वबन्धविनिर्मुक्त अहं-
भावका भी व्यक्तीकरण नहीं है, यह स्वयं भगवानका
व्यक्त होना है। हमारी मुक्ति, हमारी संसिद्धि और हमारी
पूर्णता तो भगवानके व्यक्त होनेका ही एक परिणाम और
अंग मात्र है और सो भी किसी अहंभावसे नहीं, किसी
अहंता-ममताके स्वार्थके लिये भी नहीं। यह मुक्ति, संसिद्धि,
पूर्णता भी हमारे अपने लिये नहीं, भगवानके लिये है।

* * * *

इस योगका अर्थ केवल ईश्वरकी प्राप्ति नहीं, बल्कि वह
आभ्यन्तर और बाह्य जीवनका परिपूर्ण उत्सर्ग और
आमूल परिवर्तन है जिससे उसमें भगवच्चैतन्य व्यक्त हो
और वह स्वयं भगवत्कर्मका एक अंग हो। इसके लिये ऐसे
आभ्यन्तरिक अभ्यासकी आवश्यकता है जो केवल सदाचार
और कृच्छ्र चान्द्रायणादि कायिक तपोंसे बहुत अधिक कड़ा

और कठिन है। यह योगमार्ग अन्य बहुतेरे योगमार्गोंकी अपेक्षा बहुत अधिक विशाल और दुर्गम है। कोई ऐसा मनुष्य कदापि इस मार्गपर पैर न रक्खे जिसका अपना यह निश्चय न हो गया हो कि यह हमारे अन्तरात्माकी पुकार है और इसपर हम अन्ततक चलनेको प्रस्तुत हैं।

* * * *

पहलेके योगोंमें आत्माके अनुभवकी ही खोज थी जो आत्मा सदा मुक्त है और परमात्मासे अविभक्त है। इसलिये उन योगोंमें उतने ही अंशमें प्रकृतिको बदलनेका यत्न किया जाता था कि जितनेसे उस आत्मज्ञान और आत्मानुभवमें मानवप्रकृति बाधक न हो। कुछ थोड़े-से ही लोग और सो भी प्रायः 'सिद्धि' प्राप्त करनेके लिये, पूर्ण परिवर्तन अर्थात् शरीरतकको बदलनेका यत्न करते थे। पृथ्वीकी पार्थिव चेतनाको ही बदलकर उसमें नवीन प्रकृति प्रकट करनेका प्रयास उनका नहीं था।

* * * *

मनुष्य जो सचेतन शरीरधारी मन ही है उसकी सम्पूर्ण चेतनाको परम चैतन्यकी परा प्रकृतिसे मिलनेके लिये ऊपर उठना होगा, और परम चैतन्यकी प्रकृतिको भी मन, प्राण और शरीरमें नीचे उतारना होगा। तभी बीचकी रुकावटें दूर होंगी और परा प्रकृति सम्पूर्ण

अपरा प्रकृतिको ऊपर उठा लेने और उसे विज्ञानकी शक्तिसे बदलकर दिव्य बनानेमें समर्थ होगी।

पृथ्वी विकासक्रमका भौतिक क्षेत्र है और मन-बुद्धि और प्राण, विज्ञान, सच्चिदानन्द तत्त्वतः इस भौतिक चैतन्यमें भी छिपे हुए हैं। पर विकासक्रममें सबसे पहले भौतिक जगत्की रचना होती है; तत्पश्चात् उसमें प्राण-लोकसे प्राण आकर पृथ्वीके प्राणतत्त्वको आकृति, संहति और गति प्रदान करता है और वनस्पतिजाति तथा पशु-जाति उत्पन्न करता है; तब मनोमय लोकसे मन उतरकर मनुष्यका सर्जन करता है। अब मन-बुद्धिके परे जो विज्ञान है वह उतरनेवाला है, इसलिये कि विज्ञानमय जाति उत्पन्न हो।

* * * *

सशक्तिक आत्मोपलब्धिके लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि पुरुष प्रकृतिके वशसे मुक्त हो; बल्कि यह आवश्यक है कि पुरुषकी अपरा प्रकृति और उसकी अन्ध शक्तियोंके प्रति जो स्नेहासक्ति है वह, वहाँसे हटाकर, परा भागवती शक्ति श्रीमाताके समर्पित हो।

अपरा निम्न प्रकृतिको और उसकी यन्त्रित अन्ध शक्तियोंको माता समझ लेना भूल है। यह प्रकृति तो यन्त्रसामग्री मात्र है जो विकासशील अज्ञानको गति देनेके लिये प्रस्तुत की गयी है। जैसे मनोऽभिमानिनी, प्राणा-

भिमानिनी या देहाभिमानिनी सत्ता ही ईश्वर नहीं है, यद्यपि वह आती परमात्मासे ही है, वैसे ही प्रकृतिकी यह यान्त्रिकता ही माता—ईश्वरी—नहीं है। अवश्य ही इस यान्त्रिकतामें तथा इसके पीछे माताका अंश है जो विकास-क्रम साधनेके लिये यह सामग्री बनाये हुए है। पर माता स्वयं जो कुछ हैं वे कोई अविद्याकी शक्ति नहीं हैं, प्रत्युत भगवानकी चिच्छक्ति, भागवत ज्योति, परा प्रकृति है जिनसे हम मुक्ति और भागवत सिद्धिकी कामना करते हैं।

पुरुष-चैतन्यका अनुभव—शान्त, स्वच्छन्द, त्रिगुण कर्मोंका अनासक्त अलिप्त साक्षित्व—मुक्तिका साधन है। स्थिरता, अनासक्ति, शान्तिमय शक्ति और आत्मरतिको प्राणोंमें, देहमें और मन-बुद्धिमें ले आना होगा। यदि इस आत्मरतिकी इस प्रकार मन-बुद्धि, प्राण और देहमें प्रतिष्ठा हो गयी तो प्राणगत शक्तियोंके उपद्रवोंका शिकार होनेका अवसर नहीं आ सकता। पर यह शान्ति, समत्व, स्थिर शक्ति और आनन्दका संस्थापन, माताकी शक्तिका, आधारमें, केवल प्रथम अवतरण है। इसके परे एक ऐसा ज्ञान है, एक ऐसी सञ्चालिका शक्ति है, एक ऐसा गति-शील आनन्द है जिसका अनुभव सामान्य प्रकृतिकी उत्तमावस्थामें, अत्यन्त सात्त्विक अवस्थामें भी, नहीं हो सकता, क्योंकि यह भागवत गुण है।

सबसे पहले स्थिरता, शान्ति, मुक्ति आवश्यक है। मातेश्वरीके गतिशील अंगको अपरिपक्व अवस्थामें नीचे ले आनेका प्रयास करना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसी अवस्थामें उसका नीचे आना ऐसी क्षुब्ध अशुद्ध प्रकृतिमें आना होगा जो उसे अपना न सकेगी और इस कारण इससे भयंकर उपद्रव हो सकते हैं।

* * * *

यदि विज्ञानसे किसी ऐसे महत्तर और पूर्णतर सत्यका अनुभव न होता हो जो उसके नीचेके लोकोंमें नहीं होता तो वहाँ पहुँचनेका प्रयास करना भी व्यर्थ होता। प्रत्येक लोकके अपने-अपने सत्य हैं। सभी सत्य सर्वत्र वैसे ही नहीं हैं। कुछ सत्य ऐसे हैं जो ऊर्ध्वतर लोकमें सत्यरूपमें नहीं रहते। उदाहरणार्थ, वासना और अहंकार मनोमय, प्राणमय और अन्नमय अज्ञानके सत्य हैं; यहाँ कोई अहंकाररहित या वासनारहित हो तो वह एक निर्जीव-सा तामसिक यन्त्र मात्र है। पर इस लोकसे जब हम ऊपर उठते हैं तब अहंकार और वासनाकी कोई सत्ता नहीं रहती, वहाँ वे असत् ही प्रतीत होते हैं और सदात्मा और सत्संकल्पको विकृत विपर्यस्त करनेका काम करते हैं। दैवी और आसुरी शक्तियोंका संग्राम यहाँकी एक नित्य सत्य घटना है; पर ज्यों-ज्यों हम ऊपर उठते हैं त्यों-त्यों इसकी

सत्यता कम होती जाती है और विज्ञानमय लोकमें इसकी कोई सत्ता रह ही नहीं जाती। अन्यान्य सत्य रहते हैं, पर पूर्ण स्थितिमें उनका स्वरूप, महत्त्व और स्थान बदल जाता है। व्यक्त और अव्यक्तका भेद या तारतम्य अधिमानसमें सत्य भासित होता है—विज्ञानमें इनकी भिन्न सत्ता नहीं है, वहाँ व्यक्त और अव्यक्त दोनों अभिन्नरूपसे एक हैं। पर अधिमानसकी स्थिति साधकर उसमें जो पूर्ण होकर न रहा हो वह विज्ञानकी सत्ताको पहुँच ही नहीं सकता। मनुष्यका मन तो ऐसा है कि इसे कुछ न कर सकनेवाला व्यर्थका दर्प हुआ करता है और उस दर्पमें आकर वह भिन्न-भिन्न स्थितियोंके सत्यको छाँटने लगता और अन्य सब सत्योंको असत्य, अलीक जानकर, केवल उस एक महत्तम सत्यकी ओर उछल पड़ता है जिसे उसने स्वरूपतः तो नहीं, केवल अनुमानसे जाना है; पर यह एक प्रकारका उच्चपदाभिलाष और सगर्व प्रमाद मात्र है। बात यह है कि जो कोई ऊपर चढ़ना चाहता है उसे एक-एक सीढ़ी चढ़ना होगा और हर सीढ़ीपर मजबूतीसे पैर रखकर, स्थिर होकर ऊपर उठना होगा, तभी वह शिखरतक पहुँच सकता है।

*　　*　　*　　*

निम्न प्रकृति और उससे अपने मार्गमें आनेवाली

बाधाओंके सोचमें ही पड़े रहना भूल है। इस प्रकृति और उसकी इन बाधाओंका निस्तार, साधनाका अभावपक्ष है। इन बाधाओंको देखना, समझना और हटाना अवश्य ही एक काम है; पर इसीको सब कुछ समझकर इसीमें सदा डूबे रहना ठीक नहीं। साधनाका जो भावपक्ष है, अर्थात् परा शक्तिके अवतरणका अनुभव, वही मुख्य बात है। यदि कोई यही प्रतीक्षा करता रहे कि पहले निम्न प्रकृति सदाके लिये सर्वथा शुद्ध हो ले और तब परा प्रकृतिके आनेकी बाट जोही जाय तो ऐसी प्रतीक्षासे सदा प्रतीक्षा ही करते रह जाना पड़ेगा। यह सच है कि निम्न प्रकृति जितनी ही शुद्ध होगी, उतना ही परा प्रकृतिका उतर आना आसान होगा: पर यह भी सच है, बल्कि उससे भी अधिक सच है कि परा प्रकृतिका उतरना जितना होगा उतनी ही निम्न प्रकृति निर्मल होगी। पूर्ण शुद्धि या स्थिररूपसे पूर्ण अवतरण एकबारगी ही नहीं हो सकता, यह दीर्घकालमें निरन्तर धैर्यपूर्वक सेवनसे क्रमशः होनेवाला कार्य है। शुद्धि और प्राकट्य दोनोंका काम एक साथ चलता है और दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक स्थिरता और दृढ़ताके साथ दोनों एक दूसरेको आलिङ्गन करते हैं—साधनाका यही सामान्य क्रम है।

* * * *

इस प्रकारकी तीव्र अनुभूतियाँ उस समयतक स्थिर

नहीं रहतीं जबतक कि मानवी चेतना रूपान्तरित न हो जाय—इन अनुभूतियोंको आत्मभूत करनेमें कुछ समय लगता है । जब जीव स्वयं अबोध-सा रहता है तब आत्मसात् करनेकी यह क्रिया, परदेके अन्दर, ऊपरी आवरणसे छिपकर भीतर, हुआ करती है और ऊपरी आवरणकी चेतनाको केवल मूढ़ताकी-सी स्थितिका अनुभव होता है और ऐसा भी प्रतीत होता है कि जो कुछ दिव्य भाव-सा पहले प्राप्त हुआ था वह भी चला गया; पर जब जीव जागता है, उसकी चेतना जाग उठती है, तब वह देख सकता है कि किस प्रकार भीतर-ही-भीतर आत्मसात् करनेकी क्रिया हो रही है, और कोई भी दिव्य भाव पाया हुआ नष्ट नहीं हुआ है, बल्कि जो दिव्य भाव उतर आया था वह अब स्थिर होकर बैठा है ।

जिस विशालता, अपार स्थिरता और निश्चल नीरवता-में डूबे रहनेकी स्थितिका साधकको अनुभव होता है वही वह चीज है जिसे आत्मा या शान्त ब्रह्म कहते हैं । इसी आत्मा या शान्त ब्रह्मको पाकर उसीमें लीन होकर रहना ही कई प्रकारके योगोंका ध्येय होता है । परन्तु हमारे योगमें तो यह भगवत्सत्ताकी अनुभूतिका तथा जीवके उस भागवत चैतन्यको, जिसे हम दिव्यीकरण कहते हैं, क्रमशः प्राप्त होनेका, केवल प्रथम सोपान मात्र है ।

* * * *

सदात्माके दो रूप हैं—एक आत्मा और दूसरा अन्तरात्मा अर्थात् हृत्पुरुष जिसे हम चैत्यपुरुष भी कहते हैं। सदात्माकी अनुभूति इनमेंसे किसी एक रूपमें अथवा इन दोनों ही रूपोंमें हो सकती है। इन दोनों अनुभूतियोंमें अन्तर यही है कि आत्मा विश्वभरमें व्याप्त प्रतीत होता है, और अन्तरात्मा व्यक्तिविशेषके मन, प्राण और शरीरको धारण करनेवाले व्यष्टि पुरुषके रूपमें प्रतीत होता है। पहले पहल जब किसीको आत्मानुभव होता है तब वह आत्माको सब पदार्थोंसे पृथक्, अपने आपमें ही स्थित और संसारसे सर्वथा असक्तरूपमें ही देखता है। इस प्रकारके आत्मानुभवको सूखे हुए नारिकेल फलकी उपमा दी जा सकती है। पर अन्तरात्मा या हृत्पुरुषका अनुभव ऐसा नहीं है, इस अनुभवमें भगवान्के साथ एकत्व, भगवान् ही आश्रय और भगवान् ही एकमात्र शरण्य देख पड़ते हैं और निम्न प्रकृतिको बदल डालने तथा अपनी सन्मनोमय, सत्प्राणमय और सदन्नमय सत्ताको ढूँढ़ निकालनेकी शक्ति अनुभूत होती है। इस योगमें इन दोनों प्रकारके अनुभवोंका होना आवश्यक है।

'अहं' (मैं) रूप जो छोटा-सा अहंकार है, यह प्रकृतिकी रचना है और यह रचना मानसिक, प्राणगत और भौतिक, तीनों ही, एक-साथ है; और इसका हेतु बहिर्भूत चेतना तथा कर्मको केन्द्रीभूत करके व्यष्टि-

रूपसे व्यक्त करनेमें सहायता देना है। जब सदात्मा मिल जाता है तब अहंकारकी कुछ उपयोगिता नहीं रह जाती इसलिये तब उसका अन्त हो जाता है और उसके स्थानमें सदात्माकी प्रतीति होती है।

* * * *

त्रिगुण विशुद्ध और सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर अपने दिव्य पर्यायोंको प्राप्त होते हैं—सत्त्व ज्योतिःस्वरूप अर्थात् विशुद्ध आत्मतेज हो जाता है, रज तपःस्वरूप अर्थात् शान्तिमय प्रचण्ड दिव्य शक्तिरूपको और तम शम अर्थात् निर्द्वन्द्व समत्व-शान्तिरूपको प्राप्त होता है।

* * * *

विश्वब्रह्माण्डकी तीन शक्तियाँ हैं जिनके अधीन सब पदार्थ हैं—सृष्टि, स्थिति और संहार; जो-जो कुछ रचा जाता है वह कुछ कालतक रहता है, बाद क्षीण होकर नष्ट होने लगता है। इनमेंसे यदि संहारशक्ति निकालकर अलग की जाय तो इसका अभिप्राय यह होगा कि ऐसी सृष्टि होगी जो कभी नष्ट न होगी, सदा बनी रहेगी और बढ़ती रहेगी। परन्तु अविद्यामें उन्नतिके होनेके लिये संहारकी आवश्यकता है, और विद्यामें अर्थात् सत्सर्जनमें बिना किसी प्रलयके सतत सद्विकासका ही विधान है।

आधारके
लोक और अंग

आधारके लोक और अंग

मनुष्य अपने-आपको नहीं जानते और अपनी सत्ताके विभिन्न अंशोंको एक दूसरेसे पृथक्रूपमें देखना उन्होंने नहीं सीखा है; इन सबको वे एक अन्तःकरण करके ही जानते हैं, क्योंकि मनकी अनुभूति और समझसे वे इन्हें समझते या अनुभव करते हैं। इसीसे मनुष्य अपनी ही हालतों और कार्योंको नहीं समझ पाते और जो कुछ समझते भी हैं सो केवल ऊपरी हालत और कार्यको समझते

हैं। योगसाधनाके मूलारम्भका ही यह एक भाग है कि हम अपनी प्रकृतिकी इस विलक्षण विविधताको समझें और उन विभिन्न शक्तियोंको देखें जो इस प्रकृतिको चलाती हैं तथा इसपर ऐसा अधिकार प्राप्त करें कि ज्ञानपूर्वक हम इन शक्तियोंको स्वयं चला सकें। हमारे कई घटकावयव हैं; हमारा चैतन्य, हमारा विचार, संकल्प, वेदना, प्रतीति, कर्म इन सबका जो संघातरूप कार्य है उसमें इस प्रत्येक अवयवका कुछ-न-कुछ भाग है; पर इन सबके उद्गम-स्थान और इनके स्रोतमार्गका हमें पता नहीं रहता; इन सबका जो सम्मिलित संकरसा परिणाम ऊपर-ही-ऊपर देखनेमें आता है उसीकी हमें खबर रहती है और इसलिये इस विषयमें हम जो कुछ उपाय या अदल-बदल करेंगे वह संदिग्ध ही होगा, इसके सिवा हम और कुछ भी नहीं कर सकते।

आधारके जो अंश आत्मज्योतिकी ओर उन्मुख हो चुके हैं उन्हींसे आगेका अनुसन्धान और उपाय हो सकता है। ऊर्ध्वस्थित भगवच्चैतन्यसे ज्योतिको अपने अन्दर आवाहन करना, अन्तःस्थित हृत्पुरुषको बाहर ले आना और अभीप्साकी ऐसी ज्योति जगाना कि उससे बाह्य मन अध्यात्मजागरणमें जाग उठे और प्राण-पुरुषको प्रज्वलित कर दे, यही बाहर निकलनेका रास्ता है।

* * * *

योगका अर्थ है परमात्माके साथ संयोग—विश्वके परे

जो परमात्मतत्त्व है उसके साथ संयोग या विश्वात्माके साथ संयोग या व्यष्टिगत जो आत्मा है उसके साथ संयोग, अथवा जैसा कि इस योगमें है—तीनोंके साथ, एक साथ, संयोग। अथवा इसका अर्थ एक ऐसी चेतनाको प्राप्त होना है जिसमें पुरुष अपने क्षुद्र अहंकार, व्यष्टिगत मन-बुद्धि, व्यष्टिगत प्राण और शरीरसे बँधा नहीं रहता बल्कि परमात्माके साथ या विश्वात्मचैतन्यके साथ या किसी ऐसे अन्तःस्थित गूढातिगूढ चैतन्यके साथ एकत्वको प्राप्त होता है जिसमें पुरुष अपने स्वरूपको जान लेता है, अपने ही अन्तःस्थित आत्माको तथा जीवनके वास्तविक तत्त्वको पहचान लेता है। योगयुक्त चैतन्यस्थितिमें पुरुष पदार्थोंको ही केवल नहीं जानता, बल्कि उनकी प्रवर्त्तक शक्तियोंको भी जानता है, केवल प्रवर्त्तक शक्तियों-को ही नहीं जानता बल्कि उनके पीछे जो चिन्मय पुरुष है उसे भी जानता है। यह सब अपने अन्दर ही नहीं बल्कि विश्वके अन्दर भी जानता है।

एक ऐसी शक्ति है जो नवीन चैतन्यके उदयके संग आती है और उस चैतन्यके साथ ही बढ़ती और साथ-साथ उस चैतन्यको समुदित कराने और उसके पूर्ण होनेमें सहायक होती है। यह शक्ति योगशक्ति है। यह हमारी अन्तरात्मसत्ताके सब केन्द्रों (चक्रों) में लिपटी हुई सोयी

पड़ी है और मूलाधारमें यही वह शक्ति है जिसे तन्त्रोंमें कुण्डलिनी शक्ति कहा है। पर यह हमारे ऊपर भी अर्थात् हमारे मस्तकके ऊपर भागवती शक्तिके रूपमें है। वहाँ यह कुण्डलित, अन्तर्हित और सुप्त नहीं है किन्तु जागती हुई, सब कुछ जानती हुई, समर्थ, व्यापक और विशाल है; वहाँ वह अपने प्राकट्यके लिये अवसरकी प्रतीक्षामें है और यही वह शक्ति है, वह मातृशक्ति है जिसकी ओर हमें अपने-आपको खोल देना है। मन-बुद्धिमें यह भगवन्मानसशक्तिके रूपमें या विश्वमानसशक्तिके रूपमें अपने-आपको प्रकट करती है और यह वह काम कर सकती है जो व्यष्टिगत मन-बुद्धि नहीं कर सकती; और उसी अवस्थामें इसे योगयुक्त मानसशक्ति कहते हैं। जब यह शक्ति प्राणोंमें या शरीरमें उसी प्रकार प्रकट होती और कार्य करती है तब उसका योगयुक्त प्राणशक्तिरूप या योगयुक्त शरीरशक्तिरूप प्रकट होता है। इन सभी रूपोंमें यह जाग सकती है और दमककर बाहर और ऊपर प्रकट हो सकती है, नीचेसे भी उठकर ऊपर फैल सकती है; अथवा यह नीचे उतरकर वहाँ अमोघ शक्ति बन सकती है; यह नीचे शरीरमें भी उतर सकती है और वहाँ कर्मशील होकर अपनी ऐशी सत्ता स्थापित कर सकती है, ऊपरसे विशालतामें विस्तृत होती है, हमारे निम्नतम भागको ऊर्ध्वतम भागके साथ जोड़ सकती है, व्यष्टय-

भिमानी जीवको बन्धमुक्त कर विश्वव्यापकत्व या निरपेक्ष और परात्पर सत्ताकी स्थितिमें लाकर बिठा सकती है ।

* * * *

हमारे योगसाधनक्रममें चक्रोंमेंसे प्रत्येकका एक-एक निश्चित आध्यात्मिक उपयोग और एक-एक सामान्य कार्य भी है और यही इनकी विशिष्ट शक्तियों और कार्योंका मूल है । मूलाधार चक्र शरीरका, अवचेतनातक, नियामक है; स्वाधिष्ठान निम्नतर प्राणका नियामक है; नाभिपद्म या मणिपूर उच्चतर प्राणका नियामक है; हृत्पद्म या अनाहत चित्तका नियामक है; विशुद्ध वैखरी और विषयानुकारी बुद्धिका नियामक है; भ्रूमध्य अर्थात् आज्ञाचक्र कर्मात्मक मन, संकल्प, दृष्टि, मानसिक निर्माणका नियामक है; ऊर्ध्वस्थित सहस्रदल उच्चतरा विचारवती बुद्धिका नियामक है, इसी सहस्रदलमें इसके भी ऊपर आलोकित बुद्धि है और फिर सबके ऊपर यह चक्र अन्तर्ज्ञानकी ओर खुला हुआ है । इसी स्थानसे होकर अधिमानस-का शेष अंगोंके साथ सम्बन्ध रहता है अथवा यह अधि-मानस उत्प्लावित होकर शेष अंगोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध भी कर लेता है ।

* * * *

इस योगमें अवचेतना हम अपनी सत्ताके उस भागको

कहते हैं जो सर्वथा दबा हुआ-सा रहता है, जिसमें कोई जागता हुआ चेतन या सुसम्बद्ध विचार, संकल्प या प्रतीति अथवा व्यवस्थित प्रतिक्रिया नहीं होती पर फिर भी जो सब पदार्थोंके संस्कार बेजाने ग्रहण करता और अपने अन्दर संचित रखता है और इसी कारणसे इस भागमेंसे भी सब प्रकारकी उत्तेजनाएँ, अविरत अभ्यस्त वृत्तियाँ, बेढंगे तौरपर या विचित्र रूप धारण कर स्वप्नमें या जागतेमें उठ सकती हैं। ये संस्कार असम्बद्ध और अस्तव्यस्त रूपसे स्वप्नमें तो प्रायः उठा ही करते हैं पर जागतेमें भी उठते हैं। जागतेमें इनका स्वरूप पुराने विचारों या पुराने मनोगत प्राणगत शरीरगत अभ्यासोंका यन्त्रवत् पुनरावर्तन-सा होता है अथवा ऐसे संवेदनों, कार्यों और भावोंका अज्ञात-सा उत्तेजन होता है कि जो संवेदन, कार्य या भाव अपने ज्ञात विचार या कृत संकल्पमें नहीं होते, यही नहीं बल्कि जो अपने विचार और संकल्पगत प्रतीति, इच्छा और अनुमतिके विरुद्ध भी होते हैं। इस अवचेतन भागमें एक छिपी-सी मन-बुद्धि होती है जिसमें हमारे पूर्वार्जित कर्मसंस्कार भरे और बद्धमूलसे जमे रहते हैं; इसमें छिपा-सा प्राण भी होता है जिसमें अभ्यासगत वासनाओं, संवेदनों और प्राणगत प्रतिक्रियाओंके बीज भरे रहते हैं; इसमें एक अति ही गुप्त-सुप्त तमोवृत अन्नमय कोष भी होता है जो शारीरिक अवस्थासे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत बड़े कार्य-

भागका नियामक है। हमारी बीमारियोंका मूल प्रायः इसीमें होता है; पुरानी और बार-बार होनेवाली बीमारियोंका कारण तो यही अवचेतना तथा इसकी अमिट-सी स्मृति और इसकी, दैहिक चेतनापर पड़े हुए संस्कारोंको बार-बार दुहरानेकी, आदत ही है। पर इस अवचेतनाको अपनी सत्ताके उन उत्कृष्ट भागोंसे, जैसे आन्तर या सूक्ष्म भौतिक चैतन्य, आन्तर प्राण या आन्तर मानससे, सर्वथा भिन्न और पृथक् जानना चाहिये; क्योंकि ये आन्तर सूक्ष्म भूत या प्राण या मानस अवचेतन या असम्बद्ध या किसी प्रकार अस्तव्यस्त नहीं हैं, यद्यपि हमारा जो बाह्य चैतन्य है उससे ये अवश्य ही छिपे हुए हैं। हमारा बाह्य चैतन्य इन भागोंसे सतत ही कुछ-न-कुछ ग्रहण करता रहता है पर उसे प्रायः यह बोध नहीं रहता कि वह चीज कहाँसे आती है जिसे वह इस प्रकार ग्रहण करता है।

* * * *

यह जड जगत् जो हम देखते हैं, इसके ऊपर एक प्राणमय लोक है (जो स्वतः सिद्ध है); और इन प्राणमय तथा पार्थिव लोकोंके ऊपर मनोमय लोक है (जो भी स्वतः सिद्ध है)। इन तीनों—मनोमय, प्राणमय और भौतिक—लोकोंको एक साथ निम्न विश्वार्द्धका त्रिविध जगत् कहते हैं। पार्थिव चैतन्यमें ये विकासक्रमसे विकसित हुए हैं, पर

पार्थिव चैतन्य और पार्थिव लोकके ऊपर, पृथिवी जिनका कि एक भाग है, इन लोकोंकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता पहलेसे है ही।

*　　*　　*　　*

मनुष्यकी सारी प्राण-प्रकृतिके पीछे उसका वास्तविक प्राणपुरुष प्रच्छन्न और अचल रूपसे विद्यमान है और वह इस बाह्य प्राण-प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न है। यह बाह्य प्राण-प्रकृति संकुचित, अज्ञ, परिसीमित और तामसी वासना, विकारवेग, लालसा, विद्रोह, सुख-दुःख, आगमापायी हर्ष-शोक, उल्लास-विषाद आदिसे परिपूर्ण है। इसके विपरीत वस्तुतः जो प्राणपुरुष है वह विस्तृत, विशाल, स्थिर, शक्तिमान्, सीमारहित, सुप्रतिष्ठ और अचल, सर्व-सामर्थ्य-सर्वज्ञान-सर्वानन्दक्षम है। और फिर इसमें अहंकार नहीं है, क्योंकि यह अपने-आपको श्रीभगवान्‌का एक प्रक्षेप और करण जानता है—यह भागवत योद्धा है, पवित्र और पूर्ण है; इसमे सब भगवत्कार्योंको सिद्ध करने-की करणशक्ति है। यही वास्तविक प्राणपुरुष है जो तुम्हारे अन्दर जागा है और बाहर आ गया है। इसी प्रकारसे वास्तविक मानस पुरुष भी है और वास्तविक भौतिक पुरुष भी है। जब ये पुरुष प्रकट होते हैं तब तुम्हें अपने अन्दर अपनी द्विविध सत्ताका पता लगता है—जो सत्ता पीछे है वह सदा स्थिर और शक्तिमती है, और

जो सत्ता बाह्य भागमें है उसीमें सारी परेशानी और अज्ञान है। परन्तु यदि वास्तविक आन्तर सत्ता अचल रहे और तुम उसमें स्थित रहो तो परेशानी और अज्ञान केवल बाह्य भागमें ही रह जायँगे; इस हालतमें अपनी सत्ताके इन बाह्य भागोंपर अधिक शक्तिमत्ताके साथ अपना वस चल सकता है और इन्हें भी मुक्त और सिद्ध किया जा सकता है।

* * * *

'मन' शब्दका प्रयोग जिस अर्थमें सामान्यतः होता है उसमें मनुष्यकी सारी चेतना, निर्विशेषभावसे आ जाती है, कारण मनुष्य मनोमय पुरुष है और वह प्रत्येक पदार्थको मानसाकृत कर लेता है; पर इस योगकी परिभाषामें 'मन' और 'मनोमय' शब्द प्रकृतिके उसी भागके सूचक हैं जिसका सम्बन्ध अभिज्ञा और बुद्धि, भावना, मानसिक या बौद्धिक संनिकर्ष, पदार्थविषयक बौद्धिक प्रतिक्रिया, वास्तविक मानसी वृत्तियाँ और आकृतियाँ, मनोमय दर्शन और मनस्संकल्प इत्यादिसे है जो उसकी बुद्धिके अंश हैं। प्राणमय प्रकृतिको मनोमय प्रकृतिसे पृथक् करके जानना चाहिये, यद्यपि प्राणमें भी एक प्रकारका मन घुसा रहता है; प्राणमय प्रकृति जीवन प्रकृति है जो वासना, वेदना, अनुभूति, प्राणगत मनोवेग, कार्यकरणशक्ति, कामसंकल्प, वासनामय अन्तः-करणकी प्रतिक्रिया और अहंता-ममताके तथा तत्सम्बन्धी

भाव, क्रोध, भय, लोभ, लोलुपता आदि एतत्क्षेत्रगत भावों-से बनी हुई होती है। मन और प्राण चेतनाके बाह्य भागमें एक दूसरेसे मिले रहते हैं, पर ये दोनों एक दूसरेसे स्वतन्त्र शक्तियाँ हैं और ज्यों ही कोई सामान्य बाह्य चेतनाके परे पहुँचता है त्यों ही वह इन्हें पृथक्-पृथक् देख लेता है, इनका पृथक् वैशिष्ट्य जान लेता है और तब इस ज्ञानकी सहायतासे इनके ऊपरी संमिश्रणका विश्लेषण कर सकता है। ऐसा भी समय होता है—थोड़ा या अधिक अथवा कभी-कभी बहुत ही अधिक—जब यह सर्वथा सम्भव है कि बुद्धि तो ईश्वर या योगके ध्येयको स्वीकार किये रहे पर प्राणको विश्वास न हो और वह शरणागत न होकर अपने सामान्य अभ्यस्त जीवनकी ही वासना, वेग और आकर्षणके रास्तेपर हठपूर्वक चलता रहे। मन-बुद्धि और प्राणोंका यह परस्पर विभेद और विरोध ही प्रायः साधनाकी अति तीव्र कठिनाइयोंका कारण होता है।

* * * *

जो कुछ तुम्हारे अन्दर होता है उसे अन्तःस्थित मानस पुरुष देखता रहता है, समझता रहता है और भले-बुरेका निर्णय करता रहता है। हृत्पुरुष इस रूपसे साक्षिवत् नहीं देखता-समझता, बल्कि अपने स्वरूपकी पवित्रताहीसे तथा स्वस्वरूपगत सहज भागवत बोधमे ही, इससे बहुत अधिक प्रत्यक्ष और स्वतः प्रकाशित मार्गसे, सहजरीत्या,

इन बातोंको अनुभव करता और जानता है; और इस लिये जब कभी यह हृत्पुरुष बाहरकी तरफ निकल पड़ता है तब यह तुरत ही बता देता है कि तुम्हारे अन्दर कौन-सी बात ठीक है और कौन-सी ठीक नहीं ।

मानव सत्ताके घटक तत्त्व ये हैं—हृत्पुरुष (जो पीछे रहकर सबको धारण करता है), आन्तर मानसपुरुष, आन्तर प्राणपुरुष और आन्तर भूतपुरुष और बाह्य पुरुष अर्थात् मन प्राण और शरीरकी केवल बाह्य प्रकृति जोकि आन्तर पुरुषोंके बाहर प्रकट होनेका यन्त्र या करण है । पर इन सबके ऊपर जीवात्मा है जो अपने प्रकट होनेके लिये इन सबको प्रयुक्त करता है— यह श्रीभगवान्का ही एक अंश है; पर यह उसकी स्व-सत्ता बहिर्मुख मनुष्यसे छिपी रहती है, क्योंकि अपने ही इस अन्तस्तम अन्तरात्माके स्थानमें वह मानस अहंकार और प्राणगत अहंकारको लाकर बैठाता है । केवल वे ही लोग जिन्होंने अपने-आपको जानना आरम्भ किया है, अपने इस वास्तविक आत्माको जान पाते हैं; फिर भी यह जीवात्मा सदा मन, प्राण और शरीरके पीछे ही रहता है और सबसे अधिक प्रत्यक्ष रूपसे हृत्पुरुषके द्वारा ही प्रकट होता है । यह हृत्पुरुष स्वयं भी परमात्मा-का एक स्फुलिंग है । अपनी प्रकृतिमें इस हृत्तत्त्वका विकास जब होने लगता है तभी ऊर्ध्वस्थित जीवात्मा-

का बोध और उसके साथ अपना सम्बन्ध अनुभूत होने लगता है। जब यह बात होती है और जीवात्मा अपनी चिन्मय संकल्पशक्तिके द्वारा प्रकृतिकी प्रवृत्तियोंको नियत और सुव्यवस्थित करने लगता है तब यह समझना चाहिये कि यह वास्तविक, आध्यात्मिक आत्मप्रभुत्व है, आंशिक और केवल मानसिक या नैतिक प्रभुत्व नहीं।

* * * *

'प्रधान पुरुष' पदका प्रयोग हमारे योगमें परमात्माके उस अंशके लिये होता है जो हमारे अन्दर है, जो हमारे अन्य सब तत्त्वोंको धारण करता और जन्म-मृत्युके परे रहता है। इस प्रधान पुरुषके दो स्वरूप हैं—ऊर्ध्वमें यह जीवात्मा है जिसे हम परा आत्मविद्याके प्राप्त होनेपर अनुभव करते हैं;—और नीचे यह हृत्पुरुष है जो अन्तःकरण, शरीर और प्राणोंके परे अधिष्ठित रहता है। जीवात्मा अध्यक्षरूपसे जीवनके व्यक्तीकरणके ऊपर रहता है; हृत्पुरुष जीवनके व्यक्तीकरणके पीछे रहकर उसको धारण करता है।

हृत्पुरुषका स्वभाव अपने आपको ईश्वरका पुत्र, शिशु, भक्तरूपमें अनुभव करना है; यह ईश्वरका अंश है, तत्त्वतः ईश्वरके साथ एक है; पर व्यक्तीकरणरूप कर्मशक्तिमें, सदा ही अभेदमें भी भेद होता है। परन्तु जीवात्मा तत्त्वमें ही रहता है और परमात्माके साथ एकत्वमें विलीन हो सकता

है; परन्तु यह जीवात्मा भी ज्यों ही व्यक्तीकरणके कर्मपर अध्यक्षरूपसे अधिष्ठित होता है त्यों ही यह अपने-आपको बहुविध परमात्माका एक केन्द्रमात्र जानता है, स्वयं परमेश्वर नहीं। यह भेद ध्यानमें रखना परमावश्यक है; अन्यथा प्राणगत लवमात्र अहंकारसे साधक अपने-आपको अवतार समझने लग सकता है या रामकृष्णके शिष्य 'हृदय' की तरह उन्मादको प्राप्त हो सकता है।

* * * *

आत्मा ब्रह्म—परमात्मतत्त्व है।

जब परमात्मा अपनी अन्तर्हित बहुविधताको व्यक्त करते हैं, तब यह आत्मतत्त्व अर्थात् आत्मा इस व्यक्तीकरणके लिये प्रधान पुरुष बनता है और ऊर्ध्वमें ही स्थित रहकर अपनी व्यक्त व्यष्टियों और सांसारिक जीवनोंके विकासका अधिनेतृत्व करता है, पर यह स्वयं परमात्माका सनातन अविनाशी अंश है और जगदभिव्यक्तिके परे रहता है—'पराप्रकृतिर्जीवभूता।'

नीचे इस जगत्में अर्थात् अपरा प्रकृतिमें परमात्माका यह सनातन अंश परमात्माग्निके स्फुलिंगरूप हृत्पुरुषके रूपसे प्रकट होता है और यह हृत्पुरुष मनोगत, प्राणगत और अन्नगत पुरुषको धारण करता है। हृत्पुरुष यही अग्नि-स्फुलिंग है जो निजबोधकी वृद्धिके साथ-साथ, पूर्ण

प्रज्वलित व्यापक अग्निके रूपमें विकसित हो रहा है। अतः हृत्पुरुष विकसनशील है, जीवात्माके समान विकसनके परे नहीं।

पर मनुष्यको अपने इस स्वरूपका या जीवात्माका बोध नहीं है, वह केवल अपने अहङ्कारको जानता है अथवा जानता है केवल मनोमय पुरुषको जिसके द्वारा उसके शरीर और प्राणोंका नियन्त्रण होता है। पर और गहराईमें जानेपर वह अपने अन्तःस्वरूपको अर्थात् हृद्देशस्थित पुरुष-को अपना वास्तविक केन्द्र जानता है; प्रधान पुरुष ही विकासमें हृत्पुरुष है, यह परमात्माके सनातन अंश जीवात्मासे निकलता और उसीको प्रकट करता है। जब निजबोधकी पूर्णता होती है, तब जीवात्मा और हृत्पुरुष परस्पर युक्त हो जाते हैं।

अहङ्कार प्रकृतिकी एक रचना है; पर यह केवल भौतिक प्रकृतिकी ही रचना नहीं है, और इसलिये शरीरके नष्ट होनेके साथ ही यह नष्ट नहीं होता। भौतिक अहङ्कार-के अतिरिक्त मनोगत और प्राणगत अहङ्कार भी होता है।

जड चेतनाका आश्रय यहाँ केवल अविद्या ही नहीं है, अचेतना भी है—अर्थात् चैतन्य जड-रूप और जड-क्रिया-शक्तिमें भी छिपा हुआ है। पार्थिव चेतना ही, अविद्याके

कारण, परम सत्यसे वियुक्त नहीं हुई है बल्कि प्राणचेतना और मनश्चेतना भी।

* * * *

संस्कृत भाषामें 'जीव' पदके दो अर्थ हैं—एक 'प्राणी'* और दूसरा वह आत्मा जो व्यष्टिगत हुआ है जो प्राणीको उसके जन्म-जन्मान्तरव्यापी विकसनक्रममें धारण किये रहता है। इस पिछले अर्थका द्योतक पूर्ण पद 'जीवात्मा' है—जीव अर्थात् प्राणीका आत्मा, प्राणीका सनातन स्वरूप। गीतामें 'ममैवांशो जीवभूतः सनातनः' जो कहा है, इसमें 'अंश' पद रूपकके तौरपर है, इसका यह मतलब नहीं कि यह ईश्वरसे विच्छिन्न या पृथक्कृत अंश है जैसा कि तुम्हारे fragmentation, (विच्छिन्न पृथक्कृत) पदसे सूचित होता है, यह पद अर्थ ही बदल देता है; भिन्न-भिन्न जो रूप हैं उनके लिये यह पद प्रयुक्त हो सकता है पर उनके अन्दर जो आत्मा है उनके लिये नहीं। और फिर ईश्वरका जो बहुत्व है वह सनातन सत्ता है, सृष्टिके पहलेसे है। जीवात्माका ठीक वर्णन तो यह होगा कि, 'जीवात्मा वह बहुविध ईश्वर है जो यहाँ प्राणीके व्यष्टिगत आत्माके रूपमें प्रकट होता है।' जीवात्मा तत्त्वतः विकार्य या विकसनशील नहीं है, उसका निज

* सामान्य बोलचालमें भी, किसी प्राणीको कोई मारता हो तो, यह कहा करते है कि, 'क्यों ईश्वरके जीवको मारते हो ?'

स्वरूप व्यष्टिगत विकाससे ऊपर ही रहता है; विकासके अन्दर विकसनशील हृत्पुरुष ही उसका प्रतिनिधि है जो शेष प्रकृतिको धारण करता है ।

अद्वैत वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि जीवकी कोई तात्त्विक सत्ता नहीं है, क्योंकि परब्रह्म अविभाज्य है । एक दूसरा सम्प्रदाय जीवकी वास्तविक सत्ता तो मानता है पर उस सत्ताको स्वाधीन नहीं मानता—इस सम्प्रदायका यह कहना है कि जीव तत्त्वतः एक है पर व्यक्तीकरणमें भिन्न-भिन्न है, और व्यक्तीकरण सत्य है, सनातन है, माया नहीं; इसलिये जीवको असत् नहीं कह सकते । द्वैत सम्प्रदाय जीवकी अलग कोटि ही मानते हैं अथवा ईश्वर, जीव और प्रकृति यह त्रिपुटी मानते हैं ।

* * * *

जीव जब-जब जन्म ग्रहण करता है तब प्रत्येक जन्मके साथ उसके पूर्वविकास और भविष्यकी आवश्यकताके अनुसार मन प्राण शरीर विश्वप्रकृतिके उपादानोंसे निर्मित होते हैं ।

जब शरीर नष्ट होता है, तब प्राण प्राणमय लोकमें जाता है और वहाँ कुछ कालतक रहता है, पर उसके बाद प्राणमय कोष नष्ट होता है । अन्तमें नष्ट होनेवाला मनोमय कोष है । यह सब हो चुकनेपर अन्तरात्मा अर्थात् हृत्पुरुष हृल्लोकको

लौटता है और वहाँ तबतक विश्राम करता है जब उसका नवीन जन्म होनेको होता है।

सामान्य विकासवाले मनुष्य प्राणियोंकी यही गति होती है। इसमें फिर जिस-तिसके वैयक्तिक स्वभाव और विकासके अनुसार अनेक भेद होते हैं। उदाहरणार्थ, यदि मनका सुदृढ़ विकास हुआ हो तो मनोमय सत्ता संग रह सकती है, इसी प्रकार प्राणसत्ता भी संग रह सकती है यदि वास्तविक हृत्पुरुषके द्वारा ये सुव्यवस्थित हुई हों और हृत्पुरुषके घेरेमें आ गयीं हों; इस प्रकार मनोमय और प्राणमय पुरुष भी हृत्पुरुषके अमृतत्वके भागी होते हैं।

जीवनमें अन्तरात्माको जो-जो अनुभव प्राप्त होते हैं उनके सारतत्त्व वह बटोर लेता है और उन्हींको आगे होने-वाले अपने विकासका आधार बनाता है; जब वह पुनः जन्म लेता है तब वह अपने मनोमय, प्राणमय, अन्नमय कोषोंके साथ अपना उतना ही कर्म संग ले लेता है जितना कि इस नये जीवनमें आगेके अनुभवके लिये आवश्यक हो।

जीवके प्राणमय अंशके लिये ही श्राद्धादिक क्रियाकर्म किये जाते हैं जिसमें भूलोक या प्राणमय लोकोंकी आसक्तिके बन्धनस्वरूप प्राणगत स्पन्दनोंसे मुक्त

होनेमें जीवकी सहायता हो और वह जीव शीघ्रतापूर्वक इह्लोकमें पहुँचकर शान्ति लाभ कर सके ।

* * * *

व्यक्तिगत मानव चैतन्य अपने आपको विश्वचैतन्यमें फैलाता है और वह विराट् चैतन्यसे सब प्रकारका व्यवहार कर सकता है, उसमें प्रवेश कर सकता है, उसकी वृत्तियोंको जान सकता है, उससे आदान-प्रदान कर सकता है, उसके बराबर हो सकता है या उसे अपने अन्दर भी ला सकता है अर्थात्, प्राचीन योगमार्गोंकी भाषामें ब्रह्माण्डको अपने अन्दर देख सकता है ।

विराट् या विश्वचैतन्य विश्वका, विश्वात्माका और सब प्राणियों और सब शक्तियोंसमेत विश्वप्रकृतिका चैतन्य है । यह सब, सम्पूर्णरूपमें वैसा ही चेतन है जैसा कि व्यष्टिगत चैतन्य पृथक् रूपसे है, यद्यपि सम्पूर्णका चैतन्य व्यष्टिगत चैतन्यसे कुछ भिन्न प्रकारका है । व्यष्टिगत चैतन्य इस सम्पूर्णका अंश है पर ऐसा अंश है जो अपनेको पृथक् ही समझता है । तथापि यह जो कुछ है उसका अधिकांश इसमें विश्वचैतन्यसे ही आता है । पर विश्वचैतन्य और इसके बीचमें विभेदक अज्ञानकी एक दीवार खड़ी है । यह दीवार ढह जाय तो यह तुरत विश्वात्माको जान ले, विश्वप्रकृतिके चैतन्यको जान ले और

उसमें जो शक्तियाँ क्रीडा कर रही हैं उन्हें जान ले। इन सबको वह वैसे ही अनुभव करे जैसे अभी भौतिक पदार्थों और उनके संस्पर्शोंको अनुभव करता है। इन सबको वह अपने विशाल या विश्वव्यापक आत्माके साथ एकाकार अनुभव करता है।

विश्वकी भी मनोमय, प्राणमय और अन्नमय प्रकृति होती है और इन मनोमय प्राणमय और अन्नमय प्रकृतिकी शक्तियोंसे और प्रवृत्तियोंसे गृहीत अंशोंके द्वारा व्यष्टिगत मन प्राण और शरीर बनते हैं। आत्मा मन प्राण और शरीरवाली प्रकृतिके परेसे आता है। यह परा प्रकृतिका अंश है और इसीलिये हम उस परा प्रकृतिकी ओर अपने आपको उन्मुख कर सकते हैं।

ईश्वर सदा ही वह एक है जो 'बहु' है। व्यष्टिगत आत्मा उस एकके बहुत्वका अंश है और हृत्पुरुष इस व्यष्टिगत आत्माका वह अंश है जो वह इस पार्थिव प्रकृतिमें विकसित होनेके लिये डाल रखता है। मुक्तिकी अवस्थामें व्यष्टिगत आत्मा अपने-आपको वही 'एक' जानता—अनुभव करता है (जो फिर भी अनेक है)। यह व्यष्टिगत आत्मा उस एकमें अपने-आपको निमज्जित कर सकता है या उसकी गोदमें छिपकर बैठ सकता है—यही अद्वैत सिद्धान्तका 'लय' है; यह व्यष्टिगत आत्मा अपना एकत्व

अनुभव कर सकता है और फिर भी उस एकके बहुत्वके अंशरूपसे भगवान्‌में रमण कर सकता है, यह विशिष्टाद्वैत मोक्ष है; यह व्यष्टिगत आत्मा उस एकके बहुत्वमें ही रममाण होकर सनातन वृन्दावनमें श्रीकृष्णके साथ क्रीडा कर सकता है, यह द्वैती मोक्ष है। अथवा, यह व्यष्टिगत आत्मा मुक्त होकर भी लीला या प्राकट्यमें रह सकता है या जब चाहे इसमें अवतरण कर सकता है। श्रीभगवान् मनुष्योंके तत्त्वविचारोंसे बँधे नहीं हैं—वे अपने तत्त्वरूपमें तथा अपनी लीलामें सर्वथा स्वतन्त्र हैं।

* * * *

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंको उत्पन्न करने और चलानेवाली जो चिन्मयी शक्ति है उसीके बाह्य या कर्मशील स्वरूपको प्रकृति कहते हैं। यह बाह्यरूप इस लोकमें यन्त्रवत्, त्रिगुणात्मक, तीन गुणोंका खेल-सा प्रतीत होता है। इसके पीछे जीता जागता भागवत चैतन्य और भागवती शक्ति है। प्रकृति स्वयं भी परा-अपरा दो भागोंमें विभक्त है—अपरा अविद्याकी प्रकृति है अर्थात् मन, बुद्धि, प्राण और शरीरकी प्रकृति जो चेतनामें भगवान्‌से पृथक् चेतनावाली है; परा सच्चिदानन्द भगवान्‌की भागवत प्रकृति है जिसमें विज्ञानकी अभिव्यक्ति-शक्ति निहित है, जो सदा भगवद्बोधसे युक्त है और अविद्या

तथा उसके फलोंसे सर्वथा अलिप्त है। मनुष्य जबतक अविद्यामें है तबतक वह अपरा प्रकृतिके वशमें है, परन्तु आध्यात्मिक विकासके होनेसे वह परा प्रकृतिको जान पाता है और उसके साथ युक्त होनेका यत्न करता है। वह परा प्रकृतिकी ओर आरोहण कर सकता है और परा प्रकृति उसमें अवतरण कर सकती है—एवंविध जो आरोहण और अवतरण है वह मन-बुद्धि, प्राण और शरीरको पलट कर दिव्य बना सकता है।

* * * *

विज्ञानका किसी प्रकार अवतरण हो सके, इसके पूर्व यह आवश्यक है कि अधिमानसतक पहुँचकर उसे नीचे उतारा जाय—क्योंकि अधिमानस ही वह रास्ता है जिससे कोई मन-बुद्धिसे निकलकर विज्ञानको प्राप्त हो सकता है।

अधिमानससे ही सब पदार्थोंके सृष्टिकारक सत्स्वरूप-की ये विभिन्न व्यवस्थाएँ निकलती हैं। अधिमानससे वे अन्तर्ज्ञानमें आती हैं और वहाँसे प्रबुद्ध मानस और ऊर्ध्व-मानसको प्राप्त होती हैं और वहाँ वे हमारी सामान्य बुद्धिके लिये व्यवस्थित होती हैं। परन्तु ऊपरसे नीचे आनेमें स्थानस्थानान्तर-क्रमसे उनकी शक्ति और निश्चया-

त्मकता अधिकाधिक क्षीण होती जाती है। प्रत्यक्षानुभूत सत्यकी जो क्रियाशक्ति उनमें होती है वह मानव अन्तः-करणमें आकर कुछ रही नहीं जाती; क्योंकि ये चीजें मनुष्यकी बुद्धिमें अनिश्चयात्मक भावनाओं और कल्पनाओंके ही रूपमें आती हैं—अनुभूत सत्यके रूपमें नहीं, प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तुके रूपमें नहीं; किसी ऐसे रूपमें नहीं कि जिसमें शक्तियुक्त दर्शन हो और साथ ही प्रत्यक्ष अबाध्य अनुभव हो।

* * * *

विज्ञान श्रीसच्चिदानन्द और अपरा सृष्टिके मध्यमें है। इसी विज्ञानमें ही भगवच्चैतन्यका स्वसंकल्पात्मक सत्य निहित है और इसलिये सत्सृष्टिके लिये यह आवश्यक है।

सच्चिदानन्दकी अनुभूति मन, प्राण और शरीर-के भी सम्बन्धसे, अवश्य ही हो सकती है; पर यह अनुभूति एक प्रकारकी अविचल स्थिति है जिसकी प्राप्ति अपरा प्रकृतिको धारण तो करती है पर उसे दिव्य स्वरूप नहीं प्राप्त कराती। अपरा प्रकृतिको पलटकर दिव्य बनानेकी सामर्थ्य विज्ञानमें ही है।

* * * *

सच्चिदानन्द भगवान् एक हैं और उनका त्रिविध

स्वरूप है। परम भावमें तीन स्वरूप नहीं, एक ही स्वरूप है—सत् चैतन्य है, चैतन्य ही आनन्द है, और इस प्रकार तीनों एक दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते, केवल अलग ही नहीं किये जा सकते यह बात नहीं, बल्कि वे इतने परस्पर एक हैं कि अलग-अलग उनकी प्रतीति ही नहीं हो सकती। व्यक्तीकरणके उच्च स्तरोंमें ये त्रिक हो जाते हैं, यहाँ यद्यपि एक दूसरेसे अलग तो नहीं किये जा सकते पर एकका प्रधानत्व और औरोंका गौणत्व हो सकता है। नीचे उतरकर निम्न लोकोंमें वे बाह्य रूपमें अलग-अलग हो सकते हैं यद्यपि अन्तःस्वरूपसे एक ही रहते हैं; और इनमेंसे कोई भी बाह्यतः दूसरोंके बिना रह सकता है और इसीसे हमें उस स्थितिका बोध होता है जो स्थिति हमें चैतन्य-रहित जड़की या दुःखसहित सत्ताकी या आनन्दरहित चैतन्यकी-सी प्रतीत होती है। इनका इस प्रकार पार्थक्य अनुभूत हुए बिना दुःख और अज्ञान और असत्य और मृत्यु और वह चीज जिसे हम जड़ कहते हैं, ये सब अपने आपको व्यक्त ही नहीं कर सकते—पार्थिव प्रकृतिकी विश्वव्याप्त अविद्यामेंसे सान्त और दुखी चैतन्यका निकल-कर विकासको प्राप्त होना, इसके बिना बन ही न सकता।

समर्पण और आत्मोद्घाटन

समर्पण और आत्मोद्घाटन

इस योगका सम्पूर्ण तत्त्व यही है कि अपने आपको एक श्रीभगवान्के हवाले कर दो, और किसी पुरुष या पदार्थके हवाले नहीं, और भगवती माताके साथ युक्त होकर विज्ञानमय श्रीभगवान्की परा ज्योति, शक्ति, विशालता, शान्ति, पवित्रता, सच्चैतन्य और आनन्दको अपने अंदर ले आओ।

* * * *

राधा अनन्य भगवत्प्रेमकी प्रतिमा है—ऐसा अनन्य भगवत्प्रेम कि जो प्रेमीके ऊर्ध्वतम आध्यात्मिक सत्तासे

लेकर शरीरतक सर्वाङ्गमें परिपूर्ण और अखण्ड हो, जिसमें कि निरपेक्ष आत्मदान और पूर्ण समर्पण हो और शरीरमें तथा अत्यन्त जड प्रकृतिमें परमानन्द भर जाय ।

* * * *

केवल ईश्वरके ही प्रभावसे प्रभावित होना, और किसीके प्रभावको स्वीकार न करना—यही पवित्रता है ।

* * * *

किसी और वृत्तिको स्वीकार या व्यक्त न करना, ईश्वर-द्वारा प्रेरित और प्रदर्शित वृत्तियोंको ही केवल स्वीकार और व्यक्त करना—यही श्रद्धालुता है ।

* * * *

सहृदयताका यह अर्थ है कि जो सबसे बड़ा बोध और अनुभव तुम्हें प्राप्त हुआ हो उस हदतक अपनी सब वृत्तियों और कर्मोंको पहुँचाओ ।

सहृदयता पुरुषके सब अंगों और वृत्तियोंको एकीभूत और समन्वित करके भागवत शक्तिके अभिमुख कर ही देती है ।

* * * *

जो निस्सङ्कोच होकर अपने सब अङ्गोंसमेत अपने आपको भगवान्‌के अर्पण कर देते हैं, उन्हें, भगवान् भी अपने आपको दे देते हैं । उन्हींके लिये शान्ति है, प्रकाश

है, शक्ति है, मङ्गल है, मुक्ति है, विशालता है, परम ज्ञान है, आनन्दसुधासिन्धुसमूह है ।

* * * *

समर्पणकी केवल बात-चीत या कोरी कल्पना अथवा दुर्बल-सी इच्छा होनेसे ही कुछ नहीं होता; आमूल और पूर्ण परिवर्त्तनकी प्राणमय उत्कण्ठा होनी चाहिये ।

केवल मनोवृत्ति वैसी बना लेनेसे यह काम नहीं बनता, न बहुतसे आन्तरिक अनुभव होनेसे ही बनता है, क्योंकि इन अनुभवोंसे बाह्य मनुष्य ज्यों-का-त्यों रह जाता है । इसी बहिर्भूत मनुष्यको ही तो अपने आपको खोलना, समर्पण करना और रूपान्तरित होना है । इसके कायमनोवाक्कर्म और अभ्यासकी प्रत्येक छोटी-छोटी गतिको भी समर्पित करना होता है, देखना होता है, निरुद्ध कर भागवत ज्योतिके सामने लाना होता है, भागवत शक्तिके सौंप देना पड़ता है जिसमें इसके पुराने रूप और हेतु नष्ट हो जायँ और उनके स्थानमें भागवत सत्य तथा भगवती माताकी रूपान्तरकारिणी (दिव्यानुकारिणी) चिच्छक्तिका कार्य स्थापित हो ।

* * * *

यदि तुम माताको समर्पण नहीं करते और केवल, माताकी ओर उद्घाटित होते हो तो ऐसे उद्घाटनमें विशेष आध्यात्मिक अर्थ नहीं है। जो लोग इस योगका साधन करते हैं उन्हें आत्मदान—आत्मार्पण करना ही होगा; क्योंकि इस प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धिशील समर्पणके बिना किसी भी दिशामें लक्ष्यका कोई सामीप्य प्राप्त करना असम्भव है। उद्घाटित रहने या खुले रहनेका मतलब माताकी शक्तिको अपने अन्दर कार्य करनेके लिये बुलाना है, और इस शक्तिके प्रति यदि तुम अपने आपको सौंप नहीं देते तो इसका यह मतलब होता है कि तुम उस शक्तिको अपने अन्दर कार्य नहीं करने देते अथवा केवल इस शर्तपर करने देते हो कि यह शक्ति तुम जैसा चाहते हो वैसा कार्य करे, अपनी उस रीतिसे न करे जो कि भागवत सत्यकी रीति है। इस तरहकी सूझ प्रायः किसी दानवी शक्तिकी अथवा मन या प्राणकी किसी प्रकारकी अहंता-ममताकी होती है जिसका हेतु इस भागवत शक्ति या भागवत प्रसादका उपयोग अपने ही कामके लिये करना होता है और जो स्वयं भागवत कार्यमें युक्त होकर रहना नहीं चाहती—यह भगवान्से जो कुछ ले सकती है, लेना चाहती है, पर अपने आपको भगवान्के समर्पण कर देना नहीं चाहती। इसके विपरीत, वास्तविक जीव जो है वह भगवदभिमुख होता है और वह अपने आपको भगवान्के

समर्पण कर देना केवल चाहता ही नहीं बल्कि समर्पण करनेके लिये उत्कण्ठित होता है और इसीमें सुखी होता है।

इस योगमें साधक हर प्रकारकी मनोगतादर्श-संस्कृतिके परे जानेवाला समझा जाता है। सब प्रकारकी कल्पनाएँ और आदर्श मनकी चीजें हैं और ये सब केवल अर्ध-सत्य हैं; मन स्वयं भी किसी आदर्शको अपने सामने रखनेमात्रसे सन्तुष्ट रहता है, आदर्शकी कल्पना करनेमें ही उसे आनन्द आता है, पर इसका जीवनपर कुछ भी असर नहीं होता, जीवन जैसा था वैसा ही बना रहता है और यदि कुछ बदलता भी है तो बहुत थोड़ा और सो भी प्रायः बाह्यतः ही। आत्मतत्त्वका साधक आत्मानुसन्धान-को छोड़कर केवल आदर्शकी कल्पना करनेमें मगन नहीं होता; कल्पना करना उसका हेतु नहीं होता, जीवनके पश्चात् या इस जीवनमें भी भागवत सत्यको अनुभूत करना ही उसका लक्ष्य होता है—और इसी जीवनमें भागवत सत्यको अनुभूत करना जब लक्ष्य होता है तब तो यह आवश्यक ही है कि मन और प्राण बदल-कर दिव्य बनें और मन और प्राणका दिव्य होना मातृ-स्वरूपिणी भागवत शक्तिके कार्यमें अपने आपको समर्पित किये बिना नहीं बन सकता।

अव्यक्त परमेश्वरको ढूँढ़ना उन लोगोंका रास्ता है जो जीवनसे हटना चाहते हैं, और ये लोग प्रायः अपने ही साधनके द्वारा साध्यकी ओर जानेका यत्न करते हैं, अपने आपको किसी महती शक्तिकी ओर खोल देने या आत्म-समर्पण करनेके रास्तेसे नहीं; कारण, अव्यक्त परमात्मतत्त्व कोई ऐसी चीज नहीं है जो मार्ग दिखावे या मदद करे, बल्कि एक ऐसी चीज है जिसे स्वयं ही पा लेना होता है, यहाँ हर किसीका यह काम है कि वह अपनी प्रकृतिकी विशिष्ट रीति और पात्रताके अनुसार उसे पा ले। इसके विपरीत मातृस्वरूपिणी भागवत शक्तिका सञ्चार ग्रहण करनेके लिये अपने आपको खोल देने और माताके चरणोंमें अपने आपको समर्पण कर देनेसे कोई भी अव्यक्त परमतत्त्वको अनुभव कर सकता है और साथ ही उसके प्रत्येक अन्य स्वरूपको भी।

समर्पण अवश्य ही क्रमसे होता है। आरम्भमात्रसे ही कोई पूर्ण समर्पण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता; इसीलिये ऐसा होता है कि जब कोई साधक आत्मपरीक्षण करने लगता है तो उसे अपने अन्दर समर्पणका अभाव ही देखनेमें आता है। इसलिये कोई कारण नहीं है कि समर्पणका तत्त्व ही छोड़ दिया जाय और अवस्था-प्रति-

अवस्थामें, क्षेत्र-प्रति-क्षेत्रमें, क्रमशः प्रकृतिके एक-एक अंगमें उसका उपयोग न किया जाय ।

*   *   *   *

साधनाकी प्राथमिक अवस्थामें—और 'प्राथमिक' से मेरा मतलब किसी छोटे अंशसे नहीं है—प्रयत्न अपरिहार्य है । समर्पण तो सही, पर समर्पण कोई ऐसा कार्य नहीं है जो एक दिनमें हो जाय । मनके अपने भाव और विचार हुआ करते हैं और मन उनसे चिपका रहता है; मानव प्राण समर्पणमें बाधक होता है, क्योंकि प्राण जिसे समर्पण समझता है वह संशययुक्त आत्मदान है और उसमें प्राणकी अपनी वासना भी होती है; भौतिक चेतना पत्थरकी तरह है और यह जिसे समर्पण समझती है वह प्रायः जडत्वसे अधिक और कुछ नहीं होता । केवल एक हृत्पुरुष ही है जो जानता है कि समर्पण कैसे करना होता है और आरम्भमें यह हृत्पुरुष तो प्रायः बहुत कुछ छिपा ही रहता है । जब हृत्पुरुष जागता है तब यह एकाएक और सच्चे स्वरूपसे सर्वात्मना समर्पण करा सकता है; क्योंकि फिर अन्य अङ्गोंके सम्बन्धमें जो कुछ भी कठिनाई होती है उसका उपाय तुरत हो जाता है और वह कठिनाई रहने नहीं पाती । पर जबतक यह नहीं होता तबतक साधकका अपने पुरुषार्थसे प्रयत्न करना अपरिहार्य है । अथवा यों

समझो कि ऐसा प्रयत्न तबतक आवश्यक होता है जबतक कि भागवत शक्ति उत्प्लावित होकर नीचे न उतर आवे और साधना अपने हाथमें न ले ले—साधनाका अधिकाधिक भाग स्वयं ही न करने लग जाय जिसमें साधकके अपने प्रयत्नसे करनेका कार्यभाग बहुत ही थोड़ा शेष रहे—पर तब भी, प्रयत्न न सही पर अभीप्सा और सावधानता तो आवश्यक है ही जबतक कि अन्तःकरण, इच्छा, प्राण और शरीरको भागवत शक्ति पूर्णतया अधिकृत न कर ले। मैं समझता हूँ, इस विषयका विवेचन मैंने 'माता' पुस्तकके किसी अध्यायमें किया है।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो पूर्ण समर्पणकी सच्ची और बलवती इच्छाके साथ ही योगारम्भ करते हैं। ये वे लोग हैं जो हृत्पुरुषसे अथवा उस सुस्पष्ट और उद्बुद्ध मानस इच्छासे नियन्त्रित होते हैं जो जहाँ एक बार यह मान लेती है कि समर्पण ही साधनाका सिद्धान्त है वहाँ फिर उसके सम्बन्धमें और कोई बेमतलबकी बात नहीं चलने देती और जीवके अन्य अङ्गोंको अपने रास्तेपर ले आनेमें ही लग जाती है। यहाँ भी प्रयत्न मौजूद है; पर यह इतना सन्नद्ध और स्वयंस्फूर्त होता है तथा इसमें यह भाव कि हमारे पीछे कोई महती शक्ति है, इतना प्रबल और स्वाभाविक होता है कि साधकको प्रायः भान ही नहीं रहता कि मैं कुछ भी प्रयत्न कर रहा

हूँ, इसके विपरीत जहाँ मन या प्राणकी ऐसी इच्छा होती है कि वे अपनी इच्छाको ही लिये रहना चाहते हैं, अपनी वृत्ति-प्रवृत्तिको छोड़ना नहीं चाहते, वहाँ तबतक सङ्घर्ष और प्रयत्न ही चलता है जबतक कि साधकरूप यन्त्र जो सामने है तथा भागवत शक्ति जो पीछे या ऊपर है, इन दोनोंके बीचकी दीवार नहीं टूट जाती। इस विषयमें कोई नियम ऐसा नहीं बताया जा सकता जो बिना किसी भेदके साधकमात्रपर समानरूपसे घट सके। मनुष्य मनुष्यके स्वभावमें इतना अन्तर है कि किसी एक नियमसे सबका काम नहीं चल सकता।

* * * *

साधनाकी एक अवस्था ऐसी है कि जिसमें साधकको यह अनुभव होता है कि भागवत शक्ति मेरे पीछे रहकर काम कर रही है; अथवा वह कम-से-कम भागवत शक्तिद्वारा होनेवाले इस कार्यके फलोंको तो भागवत शक्तिद्वारा प्रदत्तरूपसे अनुभव करता ही है और इसलिये अपनी मनोवृत्तियोंसे, प्राणगत बेचैनीसे या शरीरकी जडता और अकर्मण्यतासे भागवत शक्तिके अवतरण या कार्यमें बाधक नहीं होता। श्रीभगवान्‌की ओर आत्मोद्घाटनका यही मतलब है। समर्पण ही इस आत्मोद्घाटनका उत्तम मार्ग है; परन्तु जबतक समर्पण नहीं बनता है तबतक अभीप्सा

और अचाञ्चल्यसे भी एक हदतक कुछ काम बनता ही है। समर्पणका अर्थ है—अपने अन्दरकी प्रत्येक वस्तुको भगवान्‌के सौंप देना, हम जो कुछ हैं और जो कुछ हमारे पास है यह सब भगवान्‌पर चढ़ा देना, अपनी किसी कल्पना, वासना या आदतको लिये अड़े न रहना बल्कि अपनी वृत्तिको ऐसा बनाना कि उनके स्थानमें भागवत सत्य अपना ज्ञान, सङ्कल्प और कर्म स्थापित कर दे।

*　　*　　*　　*

सदा भागवत शक्तिके स्पर्शमें रहो। तुम्हारे लिये सबसे अच्छी बात यही है कि तुम केवल इतना ही करो, और भागवत शक्तिको अपना कार्य करने दो; जहाँ कहीं जरूरी होगा वहाँ वह निकृष्ट शक्तियोंको अधिकृत कर लेगी और उन्हें शुद्ध करेगी; और कभी वह तुम्हें उनसे खाली कर देगी और तुम्हारे अन्दर अपने आपको भर देगी। परन्तु यदि तुम अपने मनको ही अगुआ बनने दोगे जिसमें वही तुम्हारे लिये सोचे-विचारे और कर्त्तव्यका निश्चय करे तो भागवत शक्तिसे तुम्हारा सम्पर्क छूट जायगा और निकृष्ट प्राण-शक्तियाँ उच्छृङ्खल होकर अपनी ही मनमानी करने लगेंगी और सारा काम ही संकर और विकर्मको प्राप्त होगा।

*　　*　　*　　*

समर्पण और आत्मोद्घाटन

हृत्पुरुष पूर्णरूपसे तब उद्घाटित होता है जब साधक अपनी साधनामें मिली हुई प्राणगत वासनाओंसे मुक्त होता है और सरलता तथा सहृदयताके साथ मातृचरणोंमें अपने आपको समर्पित करनेमें सक्षम होता है। यदि अहंभावकी किसी प्रकारकी प्रवृत्ति या समर्पणके हेतुमें कोई छल होगा, यदि यह योग-साधना प्राणगत वासनाओंकी प्रेरणाके बलसे की जायगी, अथवा अंशतः या पूर्णतः किसी आध्यात्मिक या अन्य महत्पदलाभकी वासना, अभिमान, अतिमान या लौकिक महदधिकार, लोक-प्रतिष्ठा या लोगोंपर प्रभाव जमानेकी इच्छासे या योगशक्तिके द्वारा किसी प्राणगत वासनाको तुष्ट करनेके लिये कोई योग-साधन करेगा तो हृत्पुरुष उद्घाटित नहीं हो सकेगा और यदि कभी हो भी तो अंशतः ही और थोड़े समयके लिये ही होकर फिर आवृत हो जायगा, क्योंकि प्राणगत वासना-के कर्म ही इसके आवरण हैं; यह चैत्याग्नि दम घोटनेवाले प्राणगत कामके धूएँमें प्रकट नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि मन-बुद्धि इस योगमें अग्रसर होकर अन्तरात्माको पीछे कर दे, अथवा यदि भक्ति या साधनाकी कोई अन्य वृत्ति हृत्पुरुषके बजाय प्राणकी ओर अधिक झुके तो भी हृत्पुरुषके प्रकट होनेमें वही अक्षमता उपस्थित होती है। पवित्रता, सरल सहृदयता और दम्भरहित

वासनारहित अहङ्काररहित विशुद्ध आत्मसमर्पणकी पात्रता, ये ही हृत्पुरुषके पूर्ण उद्घाटनके साधन हैं ।

*   *   *   *

हृदयको शुष्क कर देना, इस योगका कोई अंग नहीं है, पर हृदयकी जो उमङ्गें हैं उन्हें भगवान्‌की ओर फेर देना होगा । थोड़ी-थोड़ी देरके लिये ऐसी भी अवस्था होती है जब हृदय उपराम हो जाता है, अपने सामान्य भावोंसे हटकर ऊपरसे आनेवाले अन्तःप्रवाहकी प्रतीक्षा करता है; पर यह अवस्था हृदयके शुष्क होनेकी अवस्था नहीं बल्कि नीरव निश्चलता और शान्तिकी अवस्था है । यह हृदय ही ध्यानका मुख्य केन्द्र होना चाहिये जबतक कि चेतनाकी गति आप ही ऊपरकी ओर न हो जाय ।

*   *   *   *

सब प्रकारकी आसक्ति साधनामें बाधक है । सबके कल्याणकी कामना, सबके लिये अन्तरात्माकी दयाका होना तो ठीक है, पर किसी प्रकारकी प्राणगत आसक्ति न होनी चाहिये ।

*   *   *   *

साधकका प्रेम भगवान्‌के लिये होना चाहिये । जब यह भगवत्प्रेम पूर्ण होता है तभी वह दूसरोंसे भी यथार्थ-रूपसे प्रेम कर सकता है ।

*   *   *   *

समर्पण और आत्मोद्घाटन

भगवद्भाव बुद्धिके द्वारा न ग्रहण किया जाय, ऐसी कोई बात नहीं है; प्राण, हृदय और शरीरके द्वारा जैसे भगवद्भाव ग्रहण किया जा सकता है, वैसे ही बुद्धिके द्वारा भी ग्रहण किया जा सकता है। इसमें ये जितने समर्थ हैं उतनी ही बुद्धि भी है; और बुद्धिसमेत सभी अङ्गोंका जब रूपान्तर साधन करना है तब यह आवश्यक ही है कि बुद्धिको भगवद्भाव ग्रहण करनेका अभ्यास कराया जाय, अन्यथा उसका यह रूप पलटकर दिव्य कैसे बन सकता है?

बुद्धिकी जो सामान्य अप्रदीप्त गति है वही आत्मानुभवमें बाधक है, जैसे सामान्य असंस्कृत प्राणकी प्राकृत गति भी बाधक है अथवा जैसे शरीरकी भी तमसाच्छन्न विमूढ प्रतिरोधक चेतना भी बाधक है। बुद्धिकी जिस विपरीत गतिके क्रमसे साधकको विशेषरूपसे सावधान करना है वह एक तो यह है कि मन-बुद्धिकी कल्पनाएँ और संस्कार या तर्कोपनीत सिद्धान्त भी कभी-कभी आत्मानुभव जैसे प्रतीत होते हैं; और दूसरी यह कि प्राकृत मन-बुद्धिकी गति अशान्त होती है और वह आन्तरिक और आध्यात्मिक अनुभूतिकी सहज यथावत्ताको क्षुब्ध कर देती है तथा वास्तविक उद्बोधक ज्ञानका अवतरण होनेको अवकाश ही नहीं देती या उसका मानवबुद्धिक्षेत्रमें संस्पर्श होते ही या पूर्ण संस्पर्श होनेके पूर्व ही उसे विकृत कर देती है। इसके

अतिरिक्त बुद्धिके जो सामान्य दोष हैं वे तो हैं ही—अर्थात् बोधपूर्वक ग्रहण करने और स्थिर और प्रबुद्ध होकर विशुद्ध विवेक करनेके बजाय शुष्क संशयकी ओर झुकना; उसका यह गरूर कि जो बातें उसके परे हैं, उससे अज्ञात हैं, जो इतनी गूढ़ हैं कि उसके मर्यादित अति संकुचित अनुभवसे प्राप्त मान या नापसे नापी नहीं जा सकतीं उन्हींके सम्बन्धमें निर्णय करने चलना; उसकी यह चेष्टा कि जो बात जडातीत है उसे भौतिक मानसे निरूपित करना; अथवा उसका यह तकाजा कि जो बातें परम ज्ञानकी हैं, गुह्य हैं उन्हें जड-पदार्थ और जड-पदार्थगत मन-बुद्धिको कसनेकी कसौटीपर कसकर दिखा दो; इनके सिवाय और भी बुद्धिके इतने दोष हैं कि सब यहाँ नहीं गिनाये जा सकते। सदा ही यह इसी काममें लगी रहती है कि सच्चा ज्ञान तो एक तरफ रह जाता है, यह अपने ही प्रतीक, अपनी ही कल्पनाएँ और अपने ही मत उसके स्थानमें उपस्थित किया करती है। परन्तु बुद्धि यदि समर्पित हो, भगवान्‌की ओर खुल जाय, अस्थिरता त्याग कर भगवत्प्रकाश ग्रहण करनेवाली बने तो कोई कारण नहीं है कि बुद्धि वह साधन न बने जिससे भगवत्प्रकाश ग्रहण किया जाय, जिससे आध्यात्मिक अवस्थाओंको अनुभव करनेमें तथा आन्तरिक रूपान्तरको पूर्ण करनेमें सहायता मिले।

मानसिक (बौद्धिक) कोलाहलको भी वासनाकी प्राणगत चेष्टाके समान ही शान्त करना होता है जिसमें स्थिरता और शान्ति पूर्णरूपसे संस्थापित हो। ज्ञानका आना होता है ऊपरसे ही। इस स्थिरतामें सामान्य बौद्धिक वृत्तियाँ सामान्य प्राणवृत्तियोंके समान बाहर ही बाहर रहती हैं, शान्त अन्तरात्माके साथ उनका कुछ भी सम्पर्क नहीं होता। ऐसी निर्बन्ध अवस्था इसलिये आवश्यक होती है कि विशुद्ध सत्य और विशुद्ध जीवनकर्म अज्ञानके प्रपञ्चको हटाकर स्वयं स्थापित हो या उसे पलटकर दिव्य बना दे।

* * * *

अन्तरात्मा अर्थात् हृत्पुरुष सीधे भागवत सत्यसे सम्बद्ध रहता है, पर मनुष्यशरीरमें इस हृत्पुरुषको मन, प्राण और शरीर छिपाये रहते हैं। कोई योगाभ्यास करके मन और बुद्धिमें ज्ञानकिरणोंकी चमक पा सकता है, प्राण शक्तिको भी वशमें कर सकता है और प्राणोंमें सब प्रकारका अनुभव-विलास भी कर सकता है; चमत्कृतिजनक शारीरिक सिद्धियाँ भी प्राप्त कर सकता है; परन्तु पीछे छिपी हुई वास्तविक चैत्य शक्ति यदि प्रकट न हो, चैत्य प्रकृति यदि बाहरको न आवे तो सब कुछ किया-कराया कुछ भी नहीं है। इस योगमें हृत्पुरुष या चित्पुरुष वही

है जो शेष प्रकृतिका मुख वास्तविक परम विज्ञानकी ओर और अन्तमें परम आनन्दकी ओर खोल देता है। मन-बुद्धि अपनेसे भी अपने उच्चतर स्तरोंकी ओर खुल सकती है, वह अपनेको स्थिर करके अव्यक्तमें व्याप्त हो सकती है, यह अध्यात्मप्रवण होकर किसी प्रकारके अचल मोक्ष या निर्वाणको प्राप्त हो सकती है, पर विज्ञानके ठहरनेके लिये ऐसा अकेला आत्मप्रवण मन ही पर्याप्त आश्रय-स्थान नहीं हो सकता। यदि अन्तस्तम अन्तरात्मा जाग जाय, यदि मनोमय प्राणमय और अन्नमय कोषसे निकलकर अन्तरात्मचैतन्यमें नया जन्म हो, तो ही यह योग साधा जा सकता है, अन्यथा (मन या अन्य किसी अङ्गकी अकेली शक्तिसे) यह असम्भव है।···यदि अन्तरात्म चैतन्यमें नवजन्मग्रहणसे इन्कार हो, यदि अपने बौद्धिक ज्ञान या मानसिक संस्कार या किसी प्राणगत वासनाके कारण भगवती मातासे नवजन्म लेकर नवजात शिशु बननेसे इन्कार हो तो साधनामें सफलता नहीं होगी।

*　*　*　*

शान्ति या निश्चल नीरवताके प्राप्त होनेका पूर्ण निश्चित मार्ग है उसका ऊपरसे अवतरित होना। यह अवतरण यथार्थमें, वस्तुतः, सदा इसी प्रकारसे होता है कि साधक अपने अन्दर शान्ति स्थिर होती हुई या कम-से-कम

व्यक्त होती हुई अनुभव करता है, बाह्यतः अवश्य ही उसे इसका भान सदा नहीं होता, क्योंकि इस क्रमका उसे सदा ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार शान्तिका वह अनुभव करता है पर उसे यह पता नहीं रहता कि यह शान्ति कैसे और कहाँसे आयी। तथापि यह तो सत्य ही है कि, परा चेतनाकी जो कोई भी बात है वह ऊपरसे ही आती है, केवल आध्यात्मिक शान्ति और निश्चल नीरवता ही नहीं, बल्कि प्रकाश, शक्ति, ज्ञान, परा दृष्टि और परा चिन्ता, आनन्द ये सभी ऊपरसे ही आते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि किसी हदतक ये अन्दरसे आवें, पर ऐसा इस कारणसे होता है कि अन्तःस्थित हृत्पुरुष अन्दरसे सीधे ही ऊपर इनकी ओर उन्मुख है और इसलिये पहले ये प्रकाश, शक्ति, आनन्दादि इसी स्थानमें आते हैं और तब हृत्पुरुषसे निकलकर अथवा हृत्पुरुषके ही स्वयं बाहरकी ओर प्रकट होनेसे ये जीवके अन्य अङ्गोंमें प्रकट होते हैं। अन्दरसे इनका बाहर प्रकट होना अथवा ऊपरसे इनका नीचे उतरना, ये ही दो, योगसिद्धिके राजमार्ग हैं। बाह्य मन या बाह्य चित्तकी साधना या किसी प्रकारकी तपस्यासे इनकी कोई बात हासिल हो सकती है पर ये जो दो मुख्य मूल मार्ग हैं इनकी तुलनामें इस प्रकारकी बाह्य मन या चित्तके द्वारा होनेवाली साधना या तपस्याका फल प्रायः अनिश्चित-सा और अंशमात्र होता

है। इसीलिये इस योगमें हमलोग सदा 'उद्घाटन' ही करनेको कहा करते हैं—ऐसा उद्घाटन कि आन्तर मन प्राण और शरीर एक तो हमारे अन्तस्तम अङ्ग अर्थात् हृत्पुरुषकी ओर उद्घाटित हों और दूसरे मन-बुद्धिके ऊपर जो कुछ है उसकी ओर भी उद्घाटित हों—साधना-की सिद्धिके लिये यह उद्घाटन अनिवार्य है।

इसका मूल कारण यही है कि यह जो छोटा-सा मन प्राण और शरीर है, जिसे हमलोग अपना 'आप' कहते हैं, केवल एक बाह्य वृत्ति है, अपना 'आत्मा' नहीं। यह व्यष्टिगत आत्माका केवल एक अति क्षुद्र बाह्य अंश है जो एक जरा-से जीवनभरके लिये अविद्याकी क्रीडा-मात्रके लिये, आगे किया गया है। इसमें एक अंश मन है, एक अंश प्राण है और एक तमसाच्छन्न तथा प्रायः अचेतन शरीर है—यह मन सत्यके खण्डोंकी खोजमें इधर-उधर लुढ़कता-पुढ़कता रहता है, और यह प्राण आनन्दके चूरचारकी खोजमें भटकता रहता है, और यह शरीर पदार्थोंके संस्पर्शोंको ग्रहण करता और तत्परिणामस्वरूप होनेवाले दुःख या सुख भोगता है, उन्हें अधिकृत नहीं करता। यह सब तबतक होता रहता है जबतक मन ऊब नहीं जाता और अपने तथा पदार्थों-के वास्तविक सत्यको ढूँढ़ने नहीं लगता, और प्राण ऊबकर

इस खोजमें नहीं प्रवृत्त होता कि सच्चा आनन्द भी कहीं है या नहीं, और शरीर भी थककर अपने आपसे तथा अपने सुख-दुःखोंसे मुक्त होना नहीं चाहता। जब मन, प्राण और शरीरकी यह हालत होती है तब आत्माके इस अति क्षुद्र अंशके लिये यह सम्भव होता है कि अपने वास्तविक 'आप' को तथा उसके साथ इन दिव्य अवस्थाओंको प्राप्त हो—अथवा, अन्यथा निर्वाणको प्राप्त हो।

वास्तविक जो आत्मा है वह बाहर सतहपर नहीं, भीतर गुहामें और ऊर्ध्वमें है। भीतर अन्तरात्मा है जो आन्तर मन, आन्तर प्राण और आन्तर शरीर धारण करता है जिसमें विश्वमें व्याप्त होनेकी सामर्थ्य है और इसके साथ उन वस्तुओंको पानेकी सामर्थ्य है जिन वस्तुओंको पानेकी ओर अब प्रवृत्ति हुई है—अर्थात् अपने 'आप' और पदार्थोंके अन्तर्निहित सत्यके साथ अबाध सम्बन्ध, विश्वानन्दका समास्वादन, और स्थूल अन्नमय शरीरकी बद्ध क्षुद्रता और उसके दुःखोंसे मुक्ति। आजकल यूरोपमें भी बाह्य चेतनाके परे और किसी वस्तुके होनेकी बात प्रायः ही मानी जाने लगी है, पर उसके स्वरूपके विषयमें अभी उन लोगोंको भ्रम है और उसे भ्रमसे वे लोग अवचेतन या अबोधस्वरूप मानते हैं। यथार्थमें वह वस्तु अपने ढंगकी

चेतनामें बहुत चेतन है, अवचेतन या अबोध नहीं, पर यह परदेके अन्दर है। हम लोगोंके मनोविज्ञानके हिसाबसे वह हमारी इस क्षुद्र बाह्य व्यष्टिके साथ चेतनाके कुछ चक्रोंके द्वारा सम्बद्ध है। ये चक्र योगके द्वारा जाने जा सकते हैं। उस अन्तःस्थित आत्मसत्ताका अति क्षुद्र अंश इन चक्रोंसे होकर बाह्य जीवनमें आता है, पर यही अति क्षुद्र अंश हम लोगोंके जीवनका सर्वोत्तम अंश है और हमारे कलाकौशल, काव्य, तत्त्वज्ञान, आदर्श, धार्मिक उद्योग, ज्ञान और सिद्धिके साधन सब इसीकी बदौलत हैं। परन्तु ये आन्तर चक्र अधिकांशमें बन्द या सुप्त रहते हैं—इन्हें खोलना और जगाना तथा गतिमान् करना, यह योगका एक लक्ष्य है। जब ये चक्र खुलते हैं तब अन्तःस्थित आत्मसत्ताकी शक्तियाँ और क्षमताएँ हमारे अन्दर जाग उठती हैं; पहला जागरण यह होता है कि हमारा व्यष्टिगत चैतन्य फैल जाता है और फिर हम विश्वचैतन्यको प्राप्त होते हैं; तब हम यह सीमित जीवनवाले क्षुद्र बाह्य पृथक् व्यष्टि नहीं रह जाते, बल्कि विश्व-कर्मके केन्द्र बन जाते और विश्वशक्तियोंसे प्रत्यक्षतया सम्बद्ध रहते हैं। यही नहीं, बल्कि बाह्य व्यष्टिगत पुरुषके समान इन विश्वशक्तियोंके हाथकी परवश कठपुतली होनेके बजाय हम एक हदतक प्रकृतिकी इस क्रीडाके ज्ञाता और विधाता बनते हैं—यह सब कहाँतक क्या होता है यह अन्तःपुरुष-

के विकास और उसके, ऊर्ध्वस्थित आत्मलोकोंकी ओर, उद्घाटनपर निर्भर करता है। इसीके साथ यह भी जानना चाहिये कि हृच्चक्रके खुलनेसे हृत्पुरुष अनावृत होता है और यही हृत्पुरुष क्रमशः अन्तःस्थित ईश्वर तथा ऊर्ध्वस्थित परम सत्यका बोध हमें कराता है।

हमारा जो परम आत्मा है वह हमारी इस व्यष्टि और इस शरीरके पीछे भी नहीं है, बल्कि ऊपर है और सर्वथा उसके परे है। अन्तश्चक्रोंमें सबसे ऊँचेपर जो चक्र है वह मस्तकमें है, जैसे सबसे गहरेमें जो चक्र है वह हृदयमें है; पर जो चक्र सीधे आत्माकी ओर उद्घाटित होता है वह मस्तकके ऊपर है, इस स्थूल शरीरके बिलकुल बाहर—सूक्ष्म शरीरमें। इस आत्माके दो स्वरूप हैं और आत्मानुभूतिके फल इन्हीं दो स्वरूपोंके अनुसार होते हैं। एक स्वरूप है शान्त, विशाल शान्ति मुक्ति और निश्चल नीरवताकी अवस्था जिसमें शान्त आत्मा किसी भी कर्म या अनुभवसे विचलित नहीं होता, सब कर्मों और अनुभूतियोंको निर्द्वन्द्व समत्वसे धारण करता है पर स्वयं कारण बनता नहीं प्रतीत होता बल्कि उदासीन रहता है। दूसरा स्वरूप गतिमय है और इसकी अनुभूति विश्वात्मरूपसे होती है, इसमें आत्मा कर्मको केवल धारण नहीं करता बल्कि समस्त विश्वकर्मका कारण

और आश्रय बनता है। यह विश्वकर्म केवल उतना ही नहीं है जितना कि हमारे शरीराभिमानी आत्माओंसे सम्बन्ध रखता है बल्कि इसके परे जो कुछ है वह भी अर्थात् यह लोक और अन्य लोक भी, विश्वके पारभौतिक लोक भी और भौतिक लोक भी इसमें अन्तर्भूत हैं। यहाँ आत्मा सब भूतोंमें एक ही प्रतीत होता है; और साथ ही वह सबके ऊपर, सबके परे, व्यष्टि और समष्टिके परे भी अनुभूत होता है। सबमें जो एक है उस विश्वात्मामें प्रविष्ट होना अहङ्कारसे मुक्त होना है; यहाँ अहंकार, चेतनाके अन्दर, एक अति क्षुद्र करण-सा कुछ रहता है अथवा चेतनासे सर्वथा तिरोहित ही हो जाता है। यही अहङ्कारका निर्वाण है। सबके ऊपर, सबके परे जो आत्मा है उसमें प्रविष्ट होना विश्वचैतन्य और विश्वकर्मको भी पार कर जाना है— यह विश्वकी सत्तासे उस पूर्ण मुक्तिको प्राप्त होनेका मार्ग बन सकता है जिसे मोक्ष, लय और निर्वाण भी कहते हैं।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ऊर्ध्वकी ओर उद्घाटनसे केवल शान्ति, निश्चल नीरवता और निर्वाणकी ही प्राप्ति अनिवार्य नहीं है। यहाँ साधकको यह पता तो लगता ही है कि अपने ऊपर, जैसे मस्तकके ऊपर हो, कोई महती और फिर अन्तमें अनन्त शान्ति, निश्चल नीरवता और विशालता है जो सब भौतिक और पारभौतिक स्थिति-

में व्याप्त है, पर इसके साथ ही उसे यह भी पता लग सकता है कि यहाँ एक महती शक्ति है जिसमें सर्वशक्ति है, एक महती ज्योति है जिसमें सम्पूर्ण ज्ञान है, एक महदानन्द है जो परमसुखमय और परमोल्लासमय है आरम्भमें ये बातें ऐसी प्रतीत होती हैं जैसी सत्तामात्र हों, जिनमें कोई सङ्कल्प न हो, निरपेक्ष हों, कैवल्य-स्वरूप हों—इनमेंसे किसी एकमें भी प्रवेश करनेसे निर्वाण सम्भावित प्रतीत होता है। परन्तु फिर यह भी पता लग सकता है कि इस शक्तिमें सब शक्तियाँ हैं, इस ज्योतिमें सब ज्योतियाँ हैं, इस आनन्दमें सब सुख और भोग हैं। और यह सब जो कुछ है, हमारे अन्दर भी आ सकता है। इनमेंसे कोई भी या सभी आ सकते हैं, केवल शान्ति ही नहीं; पर सबसे अधिक सुविधाजनक, पहले निरपेक्ष स्थिरता और शान्तिको ले आना है, क्योंकि इससे फिर औरोंका आना अधिक सुरक्षित होता है; अन्यथा बाह्य प्रकृतिके लिये इतनी शक्ति, ज्योति, ज्ञान या आनन्दको धारण करना या बर्दाश्त करना कठिन हो सकता है। इन सब वस्तुओंका एकत्र होना ही वह चीज है जिसे हम लोग परमात्म या भागवत चैतन्य कहते हैं। हृत्पुरुष हृदयद्वारसे उद्घाटित होकर पहले हमें अपने व्यष्टिगत आत्मासे युक्त करता है और आत्माका हमारे साथ आन्तरिक सम्बन्ध जोड़ता है; यह मुख्यतः प्रेम और भक्तिका मूल है। यह जो

ऊर्ध्वकी ओर उद्‌घाटन है, यह समग्र भगवान्‌से हमारा सम्बन्ध जोड़ता है और इससे हमारे अन्दर भागवत चैतन्य उत्पन्न हो सकता है और आत्माका नया जन्म या नये जन्म हो सकते हैं।

जब शान्ति स्थापित होती है तब यह परा अर्थात् भागवत शक्ति ऊपरसे हमारे अन्दर उतर सकती और कार्य कर सकती है। इसका अवतारण प्रायः पहले मस्तकमें होता है और उससे मनबुद्धिके अन्तश्चक्र खुल जाते हैं, तब यह शक्ति हृच्चक्रमें उतरती है और हृत्पुरुष तथा चित्त-पुरुषको सर्वथा मुक्त कर देती है, तब नाभिचक्र और अन्य प्राणचक्रोंमें उतरकर अन्तःप्राणको मुक्त करती है, इसके बाद मूलाधार और मूलाधारके नीचे उतरकर आन्तर शरीरपुरुषको मुक्त कर देती है। यह शक्ति एक साथ सिद्धि और मुक्ति दोनों साधती है; प्रकृतिके सब अङ्गोंको एक-एक करके अधिकृत करती और उन्हें दुरुस्त करती है, जो बात निकाल देने योग्य है उसे निकाल देती है, जो सुधार और उद्धार करने योग्य है उसका सुधार और उद्धार करती है, जो निर्माण करने योग्य है उसे निर्माण करती है। इसका काम है प्रकृतिमें अखण्डता और सामञ्जस्य साधन करना और एक नवीन छन्दोबद्ध गति स्थापित करना। यह उत्तरोत्तर अधिकाधिक

परा और परतरा शक्ति तथा परा प्रकृतिके क्षेत्रको नीचे ला सकती है और यदि साधनाका वैसा लक्ष्य हो तो उतनी पात्रता सिद्ध होनेपर विज्ञानकी शक्ति और सत्ताको भी नीचे ला सकती है। इसका साधन, इस साधनमें साहाय्य और इस साधनका संवर्द्धन, यह सब, हृच्चक्रस्थित हृत्पुरुषके कार्यसे होता है; जितना ही अधिक इसका उद्घाटन होता है, जितना ही अधिक यह आगेको आकर कर्ममें युक्त होता है, उतना ही शीघ्र और निश्शङ्क तथा अनायास भागवत शक्तिका यह कार्य हो सकता है। हृदयमें जितना ही अधिक प्रेम और भक्ति और शरणागति-का भाव उदय होता है, उतना ही शीघ्र और पूर्ण साधनाका विकास होता है। कारण, अवतरण और दिव्यीकरणके क्रममें श्रीभगवान्‌के साथ सतत संवर्द्धनशील सम्पर्क और तादात्म्य होता ही है।

यही इस साधनाकी मूल मीमांसा है। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि यहाँ जो सबसे मुख्य दो बातें हैं वे ये ही हैं कि एक तो हृच्चक्र खुल जाय; और दूसरी बात, मनबुद्धिके पीछे और ऊपर जो कुछ है उसकी ओर मनबुद्धिके चक्र खुल जायँ। कारण हृच्चक्र हृत्पुरुषकी ओर खुलता है और मनबुद्धिके चक्र परचैतन्यकी ओर खुलते हैं और हृत्पुरुष तथा परचैतन्यके बीच जो

सम्बन्ध है वही सिद्धिका मुख्य साधन है। पहला उद्घाटन हृच्चक्रमें एकाग्र ध्यान करनेसे होता है अर्थात् भगवान्से यह प्रार्थना करनेसे होता है कि तुम हमारे अन्दर प्रकट हो और हृच्चक्रके द्वारा समस्त प्रकृतिको उबार लो और ले चलो। अभीप्सा, प्रार्थना, भक्ति, प्रेम, समर्पण ये साधनाके इस अंशके मुख्य आधार हैं, इनके साथ अवश्य ही उन सब चीजोंका त्याग भी है जो हमारी अभीप्साके मार्गमें बाधक हैं। दूसरा उद्घाटन मस्तकमें (बादको मस्तकके ऊपर) ध्यान करनेसे और भागवत शान्ति, शक्ति, ज्योति, ज्ञान, आनन्द हमारे अन्दर अवतरित हों—पहले शान्ति अवतरित हो अथवा शान्ति और शक्ति दोनों एक साथ अवतरित हों- ऐसी भावना और प्रार्थना तथा दृढ़ इच्छा करनेसे होता है। कुछ साधक पहले ज्योति पाते हैं या पहले आनन्द पाते हैं अथवा पहले ज्ञानका ही अकस्मात् प्रपात होने लगता है। कुछ साधकोंका प्रथम उद्घाटन ऐसा होता है कि उनके सामने या उनके ऊपर अनन्त शान्ति, शक्ति, ज्योति या आनन्द छा जाता है और पीछे वे इनकी ओर आरोहण करते हैं या ये चीजें ही उनकी निम्न प्रकृतिमें उतरने लगती हैं। फिर ऐसे भी साधक हैं जिनमें पहले मस्तकमें, तब वहाँसे हृदयप्रदेशतक, तब नाभिस्थान और फिर नीचे और समस्त शरीरमें अवतरण होता है; या शान्ति

ज्योति, विशालता या शक्तिका कुछ ऐसे ढङ्गसे उद्घाटन होता है कि कैसे क्या होता है यह समझ नहीं पड़ता, उसमें अवतरणका कोई क्रम या भाव नहीं होता, या अकस्मात् विश्वचैतन्यमें प्रवेश करानेवाला दिगन्त-सा व्यापक उद्घाटन हो जाता है अथवा एकाएक बुद्धि फैल जाती है और उसमें ज्ञान उमड़ आता है। इस प्रकार जो कुछ भी आवे उसका स्वागत करना चाहिये—क्योंकि सबके लिये कोई एक ही नियम नहीं है—परन्तु यदि शान्ति पहले नहीं आती है तो इस बातकी सावधानी रखनी होगी कि मारे हर्षके फूल न जाय या फूलकर अपना समत्व न खो दे। भागवत शक्तिके अवतरणकी मुख्य गति, अवश्य ही, तब समझनी चाहिये जब भागवत शक्ति—मातृशक्ति नीचे उतरती और निम्न चैतन्यको अधिकृत करती है; क्योंकि तभी चैतन्यका सङ्गटन-कार्य आरम्भ होता और योगकी विस्तृत नींव दी जाती है।

ध्यानका परिणाम प्रायः तुरत नहीं होता—यद्यपि कुछ साधकोंकी साधना अति शीघ्र और अकस्मात्-सी कुसुमित हो जाती है; पर बहुतोंको अनुकूल बननेमें या तत्पर होनेकी तैयारीमें थोड़ा-बहुत समय लगता ही है, खासकर ऐसी अवस्थामें जबकि अभीप्सा तथा

तपस्याके द्वारा पहलेसे ही भूमि कुछ तैयार न हो। ध्यान-का फल प्राप्त करानेमें पुरातन योगके किसी मार्गसे भी कभी-कभी मदद ली जा सकती है। ज्ञानमार्गकी अद्वैत प्रक्रिया है जिसमें वारंवार यह कहा जाता है कि 'मैं मन नहीं हूँ', 'मैं प्राण नहीं हूँ', 'मैं शरीर नहीं हूँ' और इस प्रकार मन बुद्धि प्राण शरीरादिसे अपना तादात्म्य छुड़ाया जाता है, मन-बुद्ध्यादिकोंको अपने वास्तविक आत्मासे पृथक् देखा जाता है और कुछ काल अभ्यासके बाद यह अनुभव होता है कि मन बुद्धि प्राण और शरीरके सब कार्य और ये स्वयं भी बहिर्भूत, बाह्य कर्म हो रहे हैं, और अन्दर इन मन बुद्ध्यादिकोंसे सर्वथा अलग, स्वतः-सिद्ध आत्मसत्ताकी चेतना बढ़ती हुई अनुभूत होती है और फिर यही चेतना उद्घाटित होकर विश्वमें और फिर परात्परा सत्ताकी अनुभूतिमें अन्तःप्रविष्ट होती है। सांख्ययोगकी भी एक प्रक्रिया है और बड़ी जबर्दस्त प्रक्रिया है पुरुष और प्रकृतिके पार्थक्यकी। इसमें अपने साक्षी होनेकी भावना करनी होती है और यह मानना होता है कि मन, बुद्धि, प्राण, शरीरका सारा कर्म एक बाहरी खेल है और यह खेल मैं नहीं हूँ, न मेरा यह खेल है, बल्कि यह खेल प्रकृतिका है जो मुझपर लादा गया है। मैं साक्षी पुरुष हूँ, शान्त हूँ, उदासीन हूँ, इन सब चीजोंमेंसे किसीसे भी बँधा नहीं। इस प्रकार अपने अन्दर

एक पार्थक्य हो जाता है; साधक अपने अन्दर एक स्थिर शान्त पृथक् चैतन्यकी उत्तरोत्तर वृद्धि अनुभव करता है और यह चैतन्य मन, बुद्धि, प्राण और शरीररूप इस प्रकृतिके बाह्य नृत्यसे अपने आपको सर्वथा पृथक् बोध करता है। प्रायः जब ऐसा होता है तब परचैतन्यकी शान्ति और पराशक्तिका कर्म और योगका पूर्ण वेग अति शीघ्र नीचे ले आना सम्भव होता है। परन्तु प्रायः शक्ति ही ध्यान और प्रार्थनाके उत्तरमें पहले नीचे आती है और तब, यदि इन प्रक्रियाओंकी आवश्यकता हो तो इनका अभ्यास कराती है और अन्य किसी भी ऐसे साधन या क्रियाका उपयोग करती है जो सहायक या अनिवार्यरूपसे आवश्यक हो।

एक बात और। इस अवतरण और इसके कार्यके क्रममें यह अत्यावश्यक बात है कि कोई सर्वथा अपने ही भरोसे न रहे, बल्कि गुरुके आदेश-निर्देशका भरोसा करे और जो कुछ उसकी समझ, विचार और निश्चयमें आवे उसे गुरुके आगे रखे। कारण, प्रायः ऐसा होता है कि अवतरणसे निम्न प्रकृतिकी शक्तियाँ उत्तेजित होती हैं और अवतरणके साथ मिलकर उससे अपना काम निकालना चाहती हैं। ऐसा भी प्रायः होता है कि कोई एक अथवा अनेक शक्तियाँ जो स्वरूपतः अभागवत हैं, श्रीभगवान् या

श्रीभगवतीका रूप धारण करके सामने आतीं और जीवसे सेवा और समर्पण चाहती हैं। यदि ऐसी-ऐसी बातें हों और इन्हें अज्ञानवश अपना लिया जाय तो बड़ा ही भीषण नाशकारी परिणाम हो सकता है। हाँ, यदि साधक-की अनुमति केवल भागवत शक्तिके कार्यकी ओर ही हो और उसी शक्तिके आदेश-निर्देशके आगे प्रणति और शरणागति हो तो सब बातें ठीक-ठीक बन सकती हैं। यही अनुमति और इसके साथ समस्त अहङ्कारगत शक्तियों तथा अहंकारको प्रिय लगनेवाली सब शक्तियोंका त्याग, ये ही दो बातें साधनाभरमें साधककी रक्षा करनेवाली हैं। परन्तु प्रकृतिके सब रास्तोंपर सब तरहके जाल बिछे हुए हैं, अहङ्कारके भी असंख्य स्वाँग हैं, तमःशक्ति राक्षसी मायाके विलक्षण धूर्ततामय मारीच मृग हैं; बुद्धि पथप्रदर्शनका पूरा काम नहीं देती और प्रायः दगा करती है; प्राणगत वासना चाहे जिस ललचानेवाली चीजपर टूट पड़नेके लिये तैयार ही रहती है। यही कारण है कि इस योगमें 'समर्पण' पर हमलोग इतना जोर देते हैं। यदि हृच्चक्र पूर्णतया खुल जाय और हृत्पुरुष नियामक हो, तब तो कोई बात नहीं—सब ठीक है। परन्तु हृत्पुरुष चाहे जब निम्न प्रकृतिकी वासनाके क्षोभसे छिप सकता है। बहुत ही थोड़े लोग ऐसे होते हैं जो इन संकटोंसे बचे रहते हैं और यथार्थमें इन्हीं लोगोंके लिये समर्पण करना

सहज होता है। किसी ऐसे पुरुषका अनुशासन, जो स्वयं श्रीभगवान्से तदात्मभूत हो या जो श्रीभगवान्का ही प्रतिरूप हो, इस कठिन साधनामें अत्यावश्यक और अनिवार्य है।

यह जो कुछ लिखा गया इससे तुम्हें बहुत कुछ स्पष्टरूपसे यह जाननेमें मदद मिलेगी कि योगके मुख्य मार्गसे मेरा क्या अभिप्राय है। मैंने कुछ विस्तारसे ही लिखा है। पर, स्वभावतः ही इसमें केवल मूलगत बातें ही आयी हैं। देशकालपात्रके भेदसे सम्बन्ध रखनेवाली जो बातें हैं वे, साधक जब इस साधनाको करता चलेगा या यह हो कि साधना जब आप ही होती चलेगी, तब उठेंगी। आरम्भमें साधना की जाती है पर पीछे जब साधनाके कार्यका सुनिश्चित अव्यर्थ आरम्भ हो लेता है तब साधना आप ही होती चलती है।

* * * *

अब ध्यानकी बात। सामान्य अवस्था यह है कि चेतना सर्वत्र फैली हुई, छितरी हुई, असंख्य पदार्थोंमें उलझी हुई इधर-उधर इस या उस विषयकी ओर दौड़ती भटकती हुई होती है। जब कोई काम स्थिर रूपसे करना होता है तब पहली बात यही की जाती है कि सर्वत्र छितरी हुई जो चेतना है उसे हम वापिस बटोर लाते हैं और

एकाग्र करते हैं। तब कोई ध्यानपूर्वक देखे तो यह देखनेमें आवेगा कि चैतन्य किसी एक स्थानमें, किसी एक विचार या पदार्थमें एकाग्र हुआ है—जैसे कविका चित्त कविता करते हुए या वनस्पतिशास्त्रज्ञका चित्त किसी फूलके निरीक्षणमें एकाग्र होता है। यह एकाग्रता यदि विचार-की होती है तो उसका स्थान प्रायः मस्तिष्कमें होता है, यदि भावके सम्बन्धमें है तो उसका स्थान हृदय होता है। बस, इसी एकाग्रताका विस्तृत और घनीभूत होना ही योगगत ध्यान है। यह ध्यान किसी भी पदार्थपर हो सकता है, जैसे त्राटकमें किसी ज्योतिर्बिन्दुका ध्यान किया जाता है—यहाँ इतना एकाग्र होना पड़ता है कि उस बिन्दुके सिवाय और कुछ भी न दिखायी दे और कोई दूसरा विचार भी मनमें न आवे। ध्यान किसी भावनाका हो सकता है, किसी शब्दका हो सकता है, किसी नामका हो सकता है; भगवान्‌की भावना, ॐ की ध्वनि, कृष्णका नाम अथवा भावना और ध्वनिका या भावना और नामका संघात, ये सभी ध्यानके विषय हो सकते हैं। पर योगमें आगे चलकर किसी खास स्थानमें भी ध्यान करना पड़ता है। भ्रूमध्यमें ध्यानका नियम सुप्रसिद्ध है—यहाँ आन्तर मन-बुद्धि, अन्तर्दृष्टि और अन्त-स्संकल्पका चक्र या केन्द्र है। इस ध्यानमें यही करना होता है कि तुम्हारे ध्यानका जो कोई विषय हो उसे उसी

स्थानसे सोचो अथवा उसका प्रतीक उसी स्थानसे देखनेका अभ्यास करो। यदि इस प्रकार ध्यान करना आ जाय तो कुछ काल बाद तुम्हारा सम्पूर्ण चैतन्य उसी एक स्थानमें, अवश्य ही उतने समयके लिये, केन्द्रीभूत हो जायगा। कुछ कालतक और बार-बार ऐसा अभ्यास हो जानेपर यह अवस्था अनायास और सहज-सी हो जायगी।

मैं समझता हूँ, यह बात स्पष्ट हो गयी। अस्तु, इस योगमें, यही अभ्यास करना होता है, यह कोई जरूरी बात नहीं कि यह अभ्यास भ्रूमध्यमें ही किया जाय, बल्कि मस्तकमें कहीं भी अथवा हृच्चक्र (अनाहत) में, जहाँ प्राणिगुणधर्मविदोंने 'कारडिआक सेंटर' (हृदय-चक्र) का होना माना है, किया जा सकता है। किसी बाह्य विषयपर एकाग्रतासाधन करनेके बदले यहाँ मस्तकमें तुम्हें इस संकल्पपर या इस प्रार्थनामें ध्यान जमाना है कि ऊर्ध्वस्थित जो शान्ति है वह नीचे उतर आवे, अथवा जैसा कि कुछ साधक करते हैं, यह ध्यान जमाओ कि अदृष्ट आवरण हट जाय और आत्मचैतन्य ऊर्ध्वमें आरोहण करे। हृच्चक्रमें इस अभीप्साके साथ ध्यान होता है कि हृत्पद्म उन्मीलित हो, उसमें श्रीभगवान्‌की सजीव मूर्तिका अथवा और जो कुछ ध्येय हो उसका दर्शन हो। नामका

भी जप होता है पर यदि नामजप हो तो यह आवश्यक है कि उसमें चित्त एकाग्र हो और नाम आप ही हृच्चक्रसे उच्चरित होने लगे।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब इस प्रकार किसी एक ध्येय पदार्थमें चित्त एकाग्र होता है तब चेतनाके शेषभागका क्या होता है? यही होता है कि या तो वह निश्चेष्ट हो जाता है जैसा कि किसी भी प्रकारकी एकाग्रतामें होता है, अथवा यदि ऐसा न हो तो विचार या अन्य भावादि इस तरह आते-जाते हैं जैसे यह आना-जाना बाहर ही होता हो, पर चेतनाका जो एकाग्र भाग है उसका उस ओर कोई ध्यान नहीं होता।

आरम्भ-ही-आरम्भमें दीर्घ कालतक ध्यान लगाकर श्रान्त होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है यदि पहलेसे इसका अभ्यास न हो; क्योंकि थके-माँदे मनसे जो ध्यान किया जाता है वह वास्तविक ध्यान नहीं होता, न उसमें ध्यानकी शक्ति होती है। एकाग्र ध्यान करनेकी अपेक्षा, ऐसी अवस्थामें, तन-मनको ढीला छोड़कर मनन किया जा सकता है। ध्यान जब सहज हो जाय तभी ध्यान करनेका समय उत्तरोत्तर बढ़ाना चाहिये।

कर्म

कर्म

आत्मानुभूतिके लिये सर्वथा अन्तर्मुख होना और कर्मकी, बहिर्भूत चेतनाकी, उपेक्षा करना साधनामें विसङ्गत होना, एकदेशीय होना है—कारण, हमारा योग सर्वाङ्गीण है; इसी प्रकारसे सर्वथा बहिर्मुख होना और बाह्य सत्तामें ही रहना साधनामें विसंगत, एकदेशीय होना है। आन्तरिक अनुभवमें और बाह्य कर्ममें एक ही चैतन्य होना चाहिये और ये दोनों मातृशक्तिसे पूर्ण होने चाहिये।

*　　*　　*　　*

कर्मको बना रखना आन्तरिक अनुभव और बाह्य विकासमें सामञ्जस्य बना रखना है; अन्यथा एकदेशीयता

और अपरिमाणता तथा असामञ्जस्य बढ़ता जा सकता है। और फिर, यह भी आवश्यक है कि श्रीभगवान्‌के लिये कर्मकी साधना बनी रहे; क्योंकि अन्तमें इससे साधक अपने आन्तर विकासको बाह्य प्रकृति और जीवनमें ला सकता है और साधनाके अखण्ड सर्वाङ्गीण बननेमें सहायता मिल सकती है।

* * * *

प्रत्येक बात आन्तरिक अवस्थापर निर्भर करती है और बाह्य अवस्थाका उपयोग केवल आन्तरिक अवस्थाको व्यक्त करने और पक्का करने तथा उसे गतिशील और कार्यकारी बनानेमें साधन और साहाय्यके तौरपर है। हृत्पुरुषको मुख्य करके अथवा ठीक अन्तस्स्पर्शके साथ यदि तुम कोई काम करोगे या कोई बात कहोगे तो वह कार्य अव्यर्थ होगा, वह बात अव्यर्थ होगी; यदि तुम वही काम या वही बात मन-बुद्धिसे या प्राणकी आकुलतासे अथवा अन्तःकरणकी दूषित या मिश्र अवस्थामें करोगे या कहोगे तो वह प्रयास सर्वथा व्यर्थ ही जा सकता है। प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक क्षणमें ठीक तरहसे ठीक काम करनेके लिये साधकको चित्तकी ठीक अवस्थामें रहना होगा—किसी बने-बनाये मानसिक नियमके भरोसे यह बात नहीं बन सकती; क्योंकि कोई भी ऐसा मानसिक नियम किसी

अवस्थामें ठीक काम दे सकता है और किसी अवस्थामें कुछ भी काम नहीं दे सकता। कोई सामान्य सिद्धान्त सामान्यतः मान लिया जा सकता है यदि वह सत्यके अनुकूल हो, परन्तु उसके प्रयोगका प्रकार अन्तश्चैतन्यसे ही निश्चित करना होगा—प्रतिक्षण प्रतिपद इसको ही यह देखना होगा कि क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य। यदि अन्तःकरणकी प्रवृत्तियोंमें हृत्प्रवृत्ति ही प्रधान हो, यदि जीव सर्वथा माताके ही अभिमुख हुआ हो और हृत्प्रवृत्तिका ही अनुगमन करता हो तो यह बात अधिकाधिक सफलताके साथ बन सकती है।

* * * *

चित्तकी सामान्य वृत्ति समर्पणकी हो, इतना ही नहीं, बल्कि प्रत्येक कर्म ही भगवती माताको समर्पित करना चाहिये जिसमें यह वृत्ति सब समय जीती-जागती बनी रहे। कर्म करते समय किसी प्रकारके ध्यानमें मगन न होना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे चित्त कर्मसे हट जायगा; पर उन इष्टदेवका स्मरण तो सतत होना ही चाहिये जिनको कि वह कर्म समर्पित करना है। यह केवल प्रथम प्रक्रिया है। कारण, बाह्य मनके द्वारा कर्मके होते हुए भी जब तुम भागवत सत्ताके बोधमें अपने-आपको सतत स्थिर एकाग्र अनुभव करते रहनेमें समर्थ हो सकोगे, या जब तुम

निरन्तर यह अनुभव कर सकोगे कि कर्म जो हो रहा है उसे माताकी शक्ति ही कर रही है और तुम केवल एक निमित्त या करणमात्र हो, तब स्मरणके स्थानमें कर्ममें योग अर्थात् भगवान्से मिलनका अपने-आप सतत अनुभव होना आरम्भ होगा ।

* * * *

जिस कर्मसे अध्यात्मतः शुद्धि होती है वह कर्म तो केवल वही कर्म है जो निर्हेतुक होकर किया जाता है; जिसमें प्रसिद्धि या मान्यता अथवा लोकप्रतिष्ठाकी कोई इच्छा नहीं होती; जिसमें अपने मनोरथों, प्राणगत लालसाओं या भौतिक अभिरुचिका कोई आग्रह नहीं होता; जिसमें कोई अतिमान या अहंमन्यता या अपनी मान-प्रतिष्ठाका कोई दावा नहीं होता; जो केवल भगवान्के लिये भगवान्की ही आज्ञासे किया जाता है । अहंभावके साथ जो कोई भी काम किया जाता है वह अज्ञानी जगत्के लोगोंके लिये चाहे कितना भी अच्छा हो, योगके साधकके लिये किसी भी कामका नहीं है ।

* * * *

साधारण जीवनका जो कर्म होता है वह अपने ही किसी उद्देश्य और अपनी ही किसी इच्छाकी पूर्त्तिके लिये किसी बौद्धिक या नैतिक नियमकी अधीनतामें और कभी-कभी

किसी बौद्धिक आदर्शसे भी संस्पृष्ट हुआ, होता है। गीताके योगमें कर्मका ब्रह्मार्पण, वासनाजय, निरहङ्कार और निष्काम कर्म, भगवान्की अनन्य भक्ति, विश्वचैतन्यसे युक्त होना, सब प्राणियोंमें एकत्वबुद्धि, और भगवान्के साथ एकात्मता है। हमारे इस योगमें इन सब बातोंके साथ विशेष बात विज्ञानज्योति और शक्तिका अवतरण और प्रकृतिका दिव्यीकरण है।

* * * *

आत्मसमर्पण किसी विशिष्ट कर्मके करनेपर निर्भर नहीं करता, बल्कि उस भावपर निर्भर करता है जिससे कोई भी कर्म किया जाता है, फिर वह कर्म चाहे किसी भी प्रकारका हो। जो कोई भी कर्म श्री-भगवान्को समर्पित करनेके लिये, कुशलता और सावधानीके साथ, वासना और अहङ्कारसे रहित होकर, समबुद्धिसे तथा इष्टानिष्ट उपपत्तिमें स्थिर शान्तिके साथ, भगवान्के लिये ही किया जाता है, किसी वैयक्तिक लाभ, पुरस्कार या फलके लिये नहीं बल्कि इस बुद्धिसे किया जाता है कि कर्ममात्र ही भागवत शक्तिका है, वही कर्म, कर्मके द्वारा, आत्मसमर्पणका साधन होता है।

* * * *

कोई भी साधारणसे साधारण केवल शारीरिक या

यन्त्रवत् किया जानेवाला कर्म भी ठीक तरहसे नहीं हो सकता यदि असमर्थता, आलस्य और अकर्मण्यताकी वशता कोई स्वीकार कर ले। ऐसी अवस्थामें उपाय यही है कि तुम अपने आपको यन्त्रवत् किये जानेवाले कर्ममें ही आबद्ध मत रखो बल्कि अपात्रता, अकर्मण्यता और आलस्य-को अस्वीकार और परित्याग कर मातृशक्तिकी ओर अपने आपको खोल दो। यदि दम्भ, उच्चपदाभिलाष और अहंमन्यता तुम्हारे मार्गमें बाधक हों तो इन्हें अन्दरसे निकालकर बाहर फेंक दो। इन चीजोंसे, इनके हट जानेकी प्रतीक्षा ही केवल करते रहनेसे, छुटकारा नहीं मिलेगा। यदि तुम चाहते हो कि अमुक बात हो और उसके होनेकी केवल प्रतीक्षा ही करते रहोगे तो वह बात हो तो कैसे हो? यदि अपात्रता और दुर्बलता इसमें बाधक है, तो भी जब कोई मातृशक्तिके सामने अपने आपको सच्चाईके साथ और उत्तरोतर अधिकाधिक उद्घाटित करेगा तभी उस कर्मके लिये आवश्यक शक्ति और पात्रता दी जायगी और यह शक्ति और पात्रता आधारमें बढ़ेगी।

*　　*　　*　　*

जो लोग सच्चे अन्तःकरणसे माताके लिये कर्म करते हैं वे उसी कर्महीके द्वारा इस योग्य होते हैं कि यथार्थ चैतन्यको प्राप्त हों, चाहे वे कभी

बैठकर ध्यान न भी करें अथवा योगका कोई खास साधन न भी साधें। ध्यान कैसे किया जाय, यह बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है; जो कुछ भी आवश्यक है वह अपने आप आ जायगा यदि तुम अपना कर्म करते हुए तथा सदा-सर्वदा ही सच्चे, सहृदय बने रहो और अपने आपको माताके अभिमुख रखो।

* * * *

कर्ममें उद्घाटित होना वही बात है जो चैतन्यमें उद्घाटित होना है। वही शक्ति जो तुम्हारे ध्यानावस्थामें चैतन्यमें उतर आती और उसकी ओर तुम्हारे उद्घाटित होनेपर तुमको संशय और विभ्रमसे निरभ्र कर देती है, वही शक्ति तुम्हारे कर्मको भी हाथमें ले सकती है और न केवल उस कर्मसम्बन्धी दोषोंसे तुम्हें सावधान कर सकती है बल्कि तुम्हारे अन्दर यह उद्बोध करा सकती है कि आगे क्या करना होगा, और जो कुछ करना होगा उसके करनेमें तुम्हारे अन्तः-करण और हाथोंको निर्देश कर सकती है। यदि तुम अपने कर्ममें इस प्रकार उसकी ओर अपने आपको खोल दो तो तुम उसके इस निर्देशको अधिकाधिक अनुभव करोगे, यहाँतक कि, तुम अपने सब कर्मोंके पीछे माताकी कर्मशक्तिका अनुभव करोगे।

* * * *

साधनाकी कोई भी अवस्था ऐसी नहीं है जिसमें कर्म करना असम्भव हो, पथमें कोई स्थल ऐसा नहीं है जिसमें कर्म करनेके लिये आश्रय न हो और कर्म करना भगवद्ध्यान-से विसंगत जानकर त्याग देना पड़े। आश्रय तो सदा है ही; यह आश्रय है भगवान्‌का अवलम्बन और पुरुष, पुरुषके संकल्प और समस्त शक्तियोंका भगवान्‌की ओर उद्घाटित होना, भगवान्‌के समर्पित हो जाना; इस भावसे किया हुआ प्रत्येक कर्म योगसाधनाका साधन बनाया जा सकता है। व्यक्तिविशेषके लिये कहीं-कहीं कुछ समय ध्याननिमग्न होना और उतने समयके लिये कार्यको स्थगित रखना या उसे गौण बना देना आवश्यक हो सकता है; पर यह किसी-किसी व्यक्तिकी ही बात है और यह निवृत्ति भी कुछ समयके लिये ही होती है। कर्मका सर्वथा परित्याग और पूर्णतया अपने आपमें ध्याननिमग्न होना क्वचित् प्रसंगमें ही समुचित हो सकता है; क्योंकि इससे अतिशय एकदेशीय और केवल मनोमयी अवस्था ही बनती है जिसमें साधक एक ऐसे मध्य जगत्‌में रहता है जहाँ केवल आन्तरिक अनुभव होते हैं, पर बाह्य सत्‌में या जो परम सत्य है उसमें उसकी दृढ़ भूमि नहीं होती और आन्तरिक अनुभवका वह ठीक उपयोग नहीं

होता जिससे परम सत्य तथा बाह्य जीवनके बीच सुदृढ़ सम्बन्ध और फिर दोनोंकी एकता स्थापित हो।

कर्म दो प्रकारका हो सकता है—एक वह कर्म जो साधनाके लिये प्रयोगका क्षेत्र है जिसमें पुरुष और उसके कर्म क्रमसे अधिकाधिक सामञ्जस्यको प्राप्त हों और दिव्य बनें, और दूसरा वह कर्म जो भागवत अनुभूतिकी अभिव्यक्ति है। पर इस पिछले कर्मका समय तो तभी आ सकता है जब भगवत्साक्षात्कार पूर्णतया पार्थिव चैतन्यमें आ जाय; तबतक जो भी कर्म होगा वह प्रयत्न और प्रयोगका ही क्षेत्र होगा।

* * * *

मैंने भक्तिका कहीं निषेध नहीं किया है। न कभी ध्यानका ही निषेध किया होगा। मैंने अपने योगमें भक्ति और ज्ञानको उतना ही प्राधान्य दिया है जितना कि कर्मको। हाँ, इनमेंसे किसी एकको शंकर या चैतन्यके समान अनन्य-रूपसे सर्वोपरि नहीं माना है।

साधनाके सम्बन्धमें जो कुछ कठिनाई तुम्हें या किसी भी साधकको मालूम होती है वह यथार्थमें ध्यान और भक्ति और कर्मके परस्परविरोधका प्रश्न नहीं है। कठिनाई है मनकी अवस्थाके सम्बन्धमें कि किस वृत्तिसे, किस ढंगसे (या इसका और जो चाहे नाम रखो) यह भक्ति अथवा ध्यान या कर्म किया जाय।

कर्म करते हुए यदि तुमसे सतत भगवत्स्मरण नहीं होता तो कोई विशेष क्षति नहीं। अभी, आरम्भमें स्मरण और समर्पण तथा अन्तमें कृतज्ञतानिवेदन ही काफी है। अथवा अधिकसे अधिक, काम करते-करते जहाँ रुक जाओ, वहाँ स्मरण कर लेना। इस सम्बन्धमें तुम्हारा जो ढंग है वह कुछ कष्टकर और कठिन है—माळूम होता है, तुम मन-बुद्धिके जिस अंशको कर्ममें लगाते हो उसी अंशसे स्मरण भी करनेका प्रयत्न करते हो। मैं नहीं समझता कि यह सम्भव है। काम करते हुए जो लोग सतत स्मरण करते हैं (इस प्रकार स्मरण किया जा सकता है) वे प्रायः अपनी मनबुद्धिके पश्चाद्भागसे स्मरण करते हैं अथवा ऐसा भी होता है कि क्रमशः अभ्याससे ऐसी शक्ति प्राप्त होती है जिससे मनुष्य एक साथ दोनोंका विचार या दोनोंका बोध कर सके—एकको आगे रखे जिसके द्वारा कर्म हो, और दूसरा अन्तःस्थित रहे जो साक्षीरूपसे देखे और स्मरण करे। एक और तरीका है जो बहुत कालतक मेरा तरीका था—इसमें यह अवस्था रहती है कि कर्म अपने आप होता रहता है, उसमें अपने वैयक्तिक विचार या मानसिक क्रियाके दखल देनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती, और अपना चैतन्य भगवान्‌में सुस्थिर रहता है। पर यह बात प्रयत्नसे उतनी साध्य नहीं है जितनी कि अति सरल अविराम अभीप्सा और आत्मसमर्पणेच्छासे

साध्य है, अथवा चेतनाकी ऐसी गतिसे भी साध्य है जिससे अन्तस्सत्ता करण-सत्तासे पृथक् बोध होती है । अभीप्सा और समर्पणके भावसे, उपस्थित कार्यको करनेके लिये, दिव्य महती शक्तिका आवाहन करना भी एक प्रक्रिया है जिससे कार्य अद्‌भुत रीतिसे सुसम्पन्न होता है, यद्यपि इस प्रक्रियाको साधनेमें कुछ लोगोंको बहुत समय लगता है । अपने मन-बुद्धिके प्रयाससे कुछ करनेके बदले अन्तः-स्थित या ऊर्ध्वस्थित शक्तिसे कार्य करानेके कौशलको जानना साधनाका एक बड़ा रहस्य है । मेरे कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि मन-बुद्धिका प्रयास अनावश्यक है अथवा उसके द्वारा कुछ नहीं होता—बात इतनी ही है कि यदि मन-बुद्धि हर कामको अपने ही भरोसे करे तो आध्यात्मिक व्यायामपटुओंके सिवा और सबके लिये, यह प्रयास कष्टप्रद ही होता है । न मेरे कहनेका यह अभिप्राय है कि यह दूसरी प्रक्रिया वह संक्षिप्त मार्ग है जिसकी हम कामना करते हैं । इस रास्तेको तै करनेमें भी, जैसा कि मैंने ऊपर कहा, बहुत समय लग सकता है । धीरता और संकल्पकी दृढ़ता साधनाकी प्रत्येक प्रक्रियामें ही आवश्यक है ।

सामर्थ्य होनी चाहिये, यह बात सामर्थ्यवानोंके लिये तो ठीक ही है—पर अभीप्सा और उस अभीप्साको

प्राप्त होनेवाली भागवती दया सर्वथा अलीक कल्पनाएँ ही नहीं हैं; आध्यात्मिक जीवनके ये महान् और प्रत्यक्ष अनुभव हैं।

*　　*　　*　　*

कर्मसे मेरा अभिप्राय वह कर्म नहीं है जो अहंता और अज्ञानतामें, अहंताकी तुष्टिके लिये, राजसी कामनाके आवेशमें किया जाता है। अहंकार, रजस् और काम अज्ञानकी मुहरछाप हैं, इनसे विमुक्त होनेकी इच्छाके बिना कर्मयोग हो ही नहीं सकता।

कर्मयोगसे मेरा अभिप्राय परोपकार या मनुष्यजातिकी सेवा अथवा उन सब नैतिक या मनःकल्पित बातोंसे नहीं है जो मनुष्यका मन कर्मके गभीरतर तत्त्वके स्थानमें लाकर बैठाया करता है।

कर्मसे मेरा अभिप्राय वह कर्म है जो भगवान्के लिये किया जाय, भगवान्से अधिकाधिक युक्त होकर किया जाय—केवल भगवान्के लिये किया जाय, और किसी चीजके लिये नहीं। अवश्य ही आरम्भमें यह सहज नहीं है जैसे गभीर ध्यान और ज्योतिर्मय ज्ञान या सच्चा प्रेम और भक्ति भी आरम्भमें सहज नहीं हैं। परन्तु ध्यान, ज्ञान, प्रेम, भक्तिकी तरह कर्म भी यथावत् सद्भाव

और सद्वृत्ति तथा स्वगत सहज शुभ संकल्पके साथ आरम्भ होना चाहिये, तब बाकी सब अपने आप होगा।

इस भावके साथ किये जानेवाले कर्म भक्ति या ध्यान जैसे ही अव्यर्थ होते हैं। काम, रजस् और अहंकारके त्यागसे स्थिरता और पवित्रता आती है, तब उसमें शाश्वती शान्ति उतर सकती है; अपना संकल्प भगवत्संकल्पपर उत्सर्ग करनेसे, अपनी इच्छा भगवदिच्छामें निमज्जित करनेसे अहंभावका अन्त होता है और विश्व-चैतन्यका व्यापक भाव आ जाता है या विश्वके भी ऊपर जो कुछ है उसतक अपना भाव पहुँच जाता है; प्रकृतिसे पुरुषकी पृथक् सत्ता अनुभूत होती है और बाह्य प्रकृतिके बन्धनोंसे मोक्ष होता है; अपने अन्तःपुरुषका साक्षात्कार होता है और बाह्य देहाद्यभिमानी पुरुष केवल करणस्वरूप देख पड़ता है; यह प्रतीत होती है कि अपने सब काम विश्वशक्तिद्वारा हो रहे हैं और आत्मा या पुरुष साक्षी है, साक्षीरूपसे सब देख रहा है, पर स्वतन्त्र है; यह प्रतीति होती है कि अपने सब काम विश्व-जननी या परमा माता या भागवती शक्तिने अपने हाथमें ले लिये हैं और वही हृदयके पीछेसे नियन्त्रण करती और कार्य करती हैं। अपने

सब संकल्प और कर्म निरन्तर भगवान्को निवेदित करते रहनेसे प्रेम और भक्ति-अर्चना बढ़ती है और हृत्पुरुष आगेको आ जाता है। ऊर्ध्वस्थित शक्तिको निवेदन करनेसे, हमें क्रमशः अपने ऊपर उसकी सत्ता अनुभूत हो सकती है और हम अपने अंदर उसका अवतरण, तथा उत्तरोत्तर प्रवर्द्धमान चैतन्य और ज्ञानकी ओर अपना उद्घाटन अनुभव कर सकते हैं। अन्तमें कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों एक स्रोत होकर चलते हैं और आत्मसिद्धि सम्भावित होती है—अर्थात् वह कार्य बनता है जिसे हमलोग प्रकृतिका दिव्यीकरण कहते हैं।

ये सब बातें अवश्य ही एकदम एक साथ नहीं होतीं; साधककी अवस्था और पात्रताके अनुसार अल्पाधिक मन्द गतिसे, अल्पाधिक पूर्णताके साथ आती हैं। भगवत्साक्षात्कारका कोई ऐसा सीधा सरल राजमार्ग नहीं है कि चले नहीं कि पहुँच गये।

यही वह गीतोक्त कर्मयोग है जिसे मैंने इस रूपमें सर्वांगीण आध्यात्मिक जीवनकी सिद्धिके लिये, संवर्द्धित किया है। इसकी प्रतिष्ठा अटकल या तर्कपर नहीं प्रत्युत स्वानुभवपर हुई है। इसमें ध्यानका बहिष्कार नहीं और भक्तिका तो कदापि नहीं; क्योंकि भगवान्के स्वात्मार्पण

करना, सर्वस्व भगवान्‌पर उत्सर्ग करना कर्मयोगका सारतत्त्व है और यह तो तत्त्वतः भक्तिकी ही एक क्रिया है। अवश्य ही इसमें उस ध्यानका बहिष्कार है जो जीवनसे भागता है अथवा उस भावाच्छादित भक्तिका भी बहिष्कार है जो अपने ही आन्तर स्वप्नमें बंद रहती और इसीको योगकी सम्पूर्ण साधना मान बैठती है। कोई चाहे तो घंटों केवल ध्यानमें अथवा आन्तर अचल अर्चन-पूजन और हर्षातिशयमें निमग्न बैठा रह सकता है, पर पूर्ण योग इतना ही नहीं है।